ॐ

धन्य आराधना

(कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीकी अंतरंग अध्यात्मदशा पर विवेचन)

विवेचनकर्ता

पूज्य भाईश्री शशीभाई

प्रकाशक

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

- **प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :**

  वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट / श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट

  ५८०, जूनी माणेकवाड़ी,

  भावनगर-३६४००१

  फोन : (०२७८) ४२३२०७ / २१५१००५

- **गुरु गौरव**

  श्री कुन्दकुन्दकहान जैन साहित्य केन्द्र,

  पूज्य सोगानीजी मार्ग, सोनगढ़

- **श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान जैन ट्रस्ट**

  विमलांचल, हरिनगर, अलीगढ़

  फोन : (०५७१) ४१००१०/११/१२

- श्री खीमजीभाई गंगर (मुंबई) : (०२२) २६१६१५९१

  श्री डोलरभाई हेमाणी (कोलकाटा) : (०३३) २४७५२६९७

  अमी अग्रवाल (अहमदाबाद) : (०७९) R-२५४५०४९२, ९३७७१४८९६३

प्रथमावृत्ति : प्रत : १५०० वीर नि. सं.-२५२७, दि. १२-४-०१

द्वितीयावृत्ति : प्रत : ५००, (कुंदकुंदाचार्य आचार्य पदवी दिन, ३१-१२-०७)

पृष्ठ संख्या : ३२+१५६=१८८

लागत मूल्य : ३५/-

मूल्य : २५ /-

टाईप सेटिंग :

पूजा इम्प्रेशन्स

प्लोट नं. १९२४-बी,

६, शान्तिनाथ बंगलोझ

शशीप्रभु मार्ग, रुपाणी सर्कल के पास

भावनगर-३६४००१

फोन : (०२७८) २५६१७४९

मुद्रक :

भगवती ऑफसेट

१५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड

बारडोलपूरा,

अहमदाबाद

फोन : ९८२५३२६२०२

प्रकाशकीय

अध्यात्मयुगसृष्टा परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीने परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजीके प्रति जो-जो उद्गार व्यक्त किये हैं, उसे आत्मार्थी जीवको आत्मसात करने योग्य है : ``श्रीमद्को उस वक्तके द्रव्य, क्षेत्र, कालकी खबर थी, इसलिये ज्यादा प्रसिद्धिमें नहीं आये। उन्होंने कहा मेरी लेखनी, मेरा शास्त्र मध्यस्थ पुरुष ही समझ सकेंगे, विचार कर सकेंगे... इतना ही नहीं अभी जो समयसारजी परमागम शास्त्रका वांचन हो रहा है उसकी प्रभावना करनेवाले भी श्रीमद् राजचंद्र ही थे... इस `समयसारजी' शास्त्रकी इस कालमें प्रथम प्रसिद्धि करनेवाले भी श्रीमद् राजचंद्र थे। इसलिये उनका अनन्त उपकार है। इसका लाभ अभी बहुतसे भाई-बहिन ले रहे हैं, यह श्रीमद्का ही उपकार है।'' ``श्रीमद्ने जो बीज बोया है उसका फल अभी मिल रहा है। अतः बहुतसे पात्र जीव शांति समाधिके भावसे आत्मबलको प्राप्त करते हैं। यह `आत्मसिद्धि' मुमुक्षुके हृदयकी अमृत लता है।'' सौराष्ट्रमें सच्चा अध्यात्म क्या है ? इसे यथार्थ समझानेवाले अगर कोई है तो वर्तमानकालमें श्रीमद् राजचंद्र थे... श्रीमद्का विशाल हृदय एवं उज्ज्वल अंतःकरण समझनेवालेको पात्रता प्रगट करनी पड़ेगी'' ``श्रीमद्ने तो मनुष्य जीवनमें अपना सुकृत्य किया है और आत्माकी अखण्ड समाधि लेकर गये हैं।'' ``एक भव पश्चात् मोक्षदशा प्रगट करके पूर्ण पवित्र, निराकुल शांतिस्वरूपमें अपने अनन्त आनंदको वे प्राप्त होंगे।''

ऐसे महान पुरुष कृपालुदेव द्वारा स्वयंकी बाह्याभ्यंतर आत्मदशाका प्रकाशन मुमुक्षुओंके प्रति लिखे गये पत्रोंमें हुआ है, जो कि मुमुक्षु जीवोंके लिये अति श्रेयस्कर लगनेसे उसे अलगसे

छाँटकर, उस पर अद्भुत विवेचन परम उपकारी पूज्य `भाईश्री' शशीकान्तभाई शेठने किया है, जिसे प्रस्तुत ग्रंथ `**धन्य आराधना**' में प्रसिद्ध करते हुए हमें हर्ष हो रहा है। एक धर्मात्माकी अंतरपरिणतिको विभिन्न पहलूसे उन्हींसे उपकृत हुए दूसरे धर्मात्मा-पूज्य भाईश्री द्वारा प्रकाशित यह ग्रंथ ज्ञानीकी पहचान करनेके लिये बहुत उपयोगी हो सकता है।

परम पूज्य गुरुदेवश्रीने हमें श्रीमद्जी जैसे महत् पुरुषका परिचय करवाया और परम पूज्य भाईश्रीने परम कृपालुदेवकी अंतरंग अध्यात्मदशाके दर्शन करवाये इसलिये वर्तमान एवम् भावि मुमुक्षु समाज उनका ऋणी है और रहेगा।

इस ग्रंथका पहला गुजराती संस्करण संवत् २५१८ में हुआ, बादमें दूसरा गुजराती संस्करण संवत् २५२३में हुआ। यह पहला हिन्दी संस्करण परमकृपालुदेवके समाधिके शताब्दि वर्षमें प्रगट करके हम उनकी व पूज्य भाईश्रीकी कृपासे अनुगृहीत हुए हैं। अब द्वितीयावृत्ति प्रगट करते अति हर्ष हो रहा है।

इस पुस्तकके सुंदर टाईप सेटिंग कार्यके लिए पूजा इम्प्रेशन्स, भावनगरका एवम् सुंदर मुद्रण कार्यके लिये भगवती ऑफसेट, अहमदाबादके हम आभारी हैं।

इस ग्रंथमें प्रकाशित धर्मात्माकी परिणति द्वारा ज्ञानी धर्मात्माकी पहचान मुमुक्षुजीवोंको हो, ऐसी भावनाके साथ -

दि. ३१-१२-२००७
(कुंदकुंदाचार्य आचार्य पदवी दिन)

ट्रस्टीगण
वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
भावनगर

भूमिका

अभी परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रदेवके वचनामृत द्वारा अनेक भव्य जीवोंके जीवनमें आमूल परिवर्तन आया है - यह सुप्रसिद्ध है। आत्मकल्याण होनेमें उनके वचनामृतोंका यह अलौकिक चमत्कार है, जिसे आगमभाषामें सातिशय वचन-प्रभाव कहा जाता है।

सामान्यतः किसी भी महापुरुषकी मौजूदगीमें तथाप्रकारके पुण्ययोगके कारण समाजका प्रत्यक्ष आकर्षण होता है, और बादमें उनकी अनुपस्थिति होनेपर उसमें कमी आती है। परन्तु कृपालुदेवके बारेमें इससे उलटा ही बना है। जबसे उनके वचनोंका प्रकाशन शुरु हुआ है, दिन-प्रतिदिन, जैन और जैनेतर अनेकानेक पात्र जीव उनके प्रति श्रद्धान्वित होते रहे हैं, और आज देश-विदेशमें हज़ारोंकी तादादमें, उनका अनुयायी वर्ग श्री तीर्थंकरदेवके मूलमार्गको प्राप्त करनेका प्रयास कर रहा है।

परमकृपालुदेवके प्रति हज़ारों मुमुक्षुओंको, श्रद्धावंत होनेमें प्रत्यक्ष उपकारी पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामीका भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। कृपालु गुरुदेवश्रीको संवत् १९७८में श्री `समयसारजी' परमागमकी प्राप्ति हुई थी, जिसके निमित्तसे उन्हें आत्मस्वरूपकी प्राप्ति हुई थी। ये `समयसार' परम श्रुत प्रभावक मंडलकी ओरसे प्रकाशित हुआ था और इसलिये उन्होंने कृपालुदेवको उपकारी गिना है। और स्वयंने बहुमानपूर्वक `आत्मसिद्धिशास्त्र' और `अपूर्व अवसर' पर प्रवचन किये हैं, जो आज भी पुस्तकाकारमें प्रसिद्धि प्राप्त होनेसे अनेक मुमुक्षुओंको स्वाध्यायमें उपयोगी हो रहे हैं।

प्रत्यक्ष उपकारी कृपालु पूज्य गुरुदेवश्रीकी कृपासे, यहाँ भावनगर

जिनमंदिरजीमें पिछले २२ सालसे समूह शास्त्रस्वाध्याय / सत्संग नित्य नियमानुसार चल रहा है। ढाई साल पहले करीब एक महिनेके लिये कृपालुदेवके कुछएक वचनामृत पर स्वाध्याय करनेका विचार आया था, परन्तु एक महिना पूरा होनेके पहले ही, वचनामृतका जादु हुआ, सब मुमुक्षुओंने `श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथका आद्यंत स्वाध्याय करनेका निश्चय किया। तद्अनुसार आज ३० (तीस) महिनेसे कृपालुदेवके वचनामृत पर भक्तिपूर्वक स्वाध्याय चल रहा है।

इस स्वाध्यायके दौरान एक पारमार्थिक तथ्य समझमें आया या उसके ऊपर ध्यान गया कि, परमकृपालुदेवने स्वयंकी बाह्याभ्यंतर दशाका उल्लेख अनेक पत्रोंमें किया है; उसमें भी श्री सौभाग्यभाईके प्रति लिखे गये पत्रोंमें तो अपना हृदय खोला है। महान परमागमोंमें ज्ञानदशाका विषय तत्त्वदृष्टिके सिद्धांत-प्रतिपादन हेतु देखने मिलता है; परंतु ज्ञानीपुरुष स्वयं ही अपनी वर्तमान विद्यमान आध्यात्मदशाका वर्णन करे, और वह भी अपने परम सखा (श्री सौभाग्यभाई) के कल्याण हेतु, यह प्रकार एक जीवंत उदाहरण है, जो मिलता है। महाभाग्य वशात् ही ऐसा योग बनता है, कि जिसमें ज्ञानीपुरुष स्वयं अपनी समर्थ लेखनशक्ति द्वारा अपना अंतरंग खोलकर साक्षात् प्रवहमान परिणतिके दर्शन कराते हैं।

इस विषयमें सिद्धांत ऐसा है कि `ज्ञानीपुरुषकी अंतरंपरिणतिकी पहचानसे मुमुक्षुजीवको आत्मार्थ समझमें आता है।' अतः आत्मार्थ हेतु उसका अत्यंत उपयोगीत्व है और इसप्रकारसे यदि ज्ञानीपुरुषकी पहचान हुई, तो वह जीव - मोक्षमार्गको देनेवाले - समकितको अवश्य प्राप्त होकर, अंतमें भव-भ्रमणसे मुक्त होता है। ऐसे महत्वपूर्ण विषय पर ध्यान जानेसे, जिन-जिन पत्रोंमें कृपालुदेवने अपने परिणामोंका उल्लेख किया है, उन वचनोंको अलगसे छाँटकर, उसमें रही -

उसमें रही सूक्ष्मताके ऊपर आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे सामूहिक चर्चा महिनों तक हुई, और इस चर्चाकी फलश्रुतिरूप यह `**धन्य आराधना**' ग्रंथका जन्म हुआ है।

उक्त प्रकारसे कृपालुदेवकी दशा-विशेष सम्बन्धी चर्चाएँ चलने पर मुमुक्षुओंको अध्यात्म सिद्धांतोंका और परम गंभीर ऐसे द्रव्यनुयोगके सिद्धांतोंका भी अभ्यास हुआ और इससे कृपालुदेवकी महानताके अनेक विध पहलू समझमें आये, जिसकी बदौलत उनके प्रति यथार्थरूपसे भक्ति वृद्धिगत् हुई है। साथ ही साथ अपनेमें रही क्षतियाँ, दोष, विपर्यास, वगैरहका भान हुआ और खुदकी लघुता दिखती है। इसप्रकारसे यह विषय उपकारी हुआ है।

वर्तमान जैन वांग्मयमें पूर्वाचार्योंके और ज्ञानीपुरुषोंके अनेक ग्रंथ हैं। प्रत्येक ज्ञानी अपनी मौलिक शैली द्वारा मूलमार्गको और अनुभूतिके विषयभूत परमतत्त्वको व्यक्त करते हैं। अतः शैली-भेद दिखता है, परन्तु सिद्धांतभेद कहीं भी नहीं है। तथापि कृपालुदेवके वचनोंकी विलक्षणताने सांप्रत समाज पर एक अद्भुत प्रभाव डाला है कि जिसकी फलश्रुतिरूप अनेक जीव संप्रदायकी रूढ़ि और पकड़मेंसे मुक्त होकर, जिनेश्वरदेवके मूलमार्ग - सन्मुख होनेके लिये प्रेरित हुए हैं। पूर्व संस्कारवश कोई भी मनुष्य, जिस संप्रदायमें जन्म लेता है, सामान्यतः उसके पक्षपातको छोड़ नहीं सकता, परन्तु कृपालुदेवकी मध्यस्थता, सरलता, निर्दोषता, सहजता, वचन-गंभीरता, शांतता इत्यादि यथार्थ प्रकारसे व्यक्त हुए हैं, कि जिससे अनेक जैन एवम् जैनेतरोंने संप्रदायकी संकुचितताको छोड़ा है और वह प्रक्रिया आज भी चालू ही रही है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि जैन वांग्मयका यह एक अनुठा सोपान है; उसमें भी जिन्होंने पुरुषार्थ द्वारा, इस पंचम आराके द्रव्य,

क्षेत्र, काल, भाव और बंबई जैसे क्षेत्रमें रहकर, अल्प समयकी आयुष्यकी मर्यादामें रहकर, मात्र एकावतारीपना प्राप्त किया - इस पुरुषार्थके भीतरी दृश्य, जो उनकी परिणति द्वारा प्रदर्शित हुए हैं, यह विषय प्रस्तुत `धन्य आराधना' में अलगसे छाँटकर, उसकी गुढ़ताको स्पष्टीकरण द्वारा खोलनेका प्रयास यहाँ हुआ है। जिससे मुमुक्षु जीवको ज्ञानीपुरुषकी पहचान होकर और मार्गकी विधिका ग्रहण हो सके। इसतरह परम प्रयोजनभूत हेतुके लक्षसे यह ग्रंथ प्रकाशित करनेका निर्णय हुआ था। आसन्न भव्यजीवको निजहितमें यह अवश्य उपकारभूत हो सकता है।

अंतमें इस ग्रंथके स्वाध्याय द्वारा सब परमार्थकी प्राप्ति करें यही भावना।

- शशीकांत एम. शेठ

प्रस्तावना

आश्चर्यकी प्रतिमा-मूर्तिमान आत्मज्ञानस्वरूप गुणवंता ज्ञानी !

`धन्य आराधना' यह परमकृपालुदेवका आभ्यंतर जीवन है। यद्यपि मोक्षमार्गके प्रारम्भसे ही आत्माके सर्व गुण यथासंभव शुद्धतारूप परिणमन करते हैं, जिसके कारण (सर्वगुणांश वह सम्यक्त्व) धर्मात्माकी दशामें सर्व अनन्तगुण प्रगट होते हैं। परन्तु उसमेंसे अधिकांश गुण वचनअगोचर हैं। जो गुण वचनअगोचर हैं उसे अनुभवी पुरुषोंने अपनी अभिव्यक्तिके सामर्थ्य अनुसार प्रसिद्ध किये हैं। उसमें भी इस विषयमें कृपालुदेवकी कलमका सामर्थ्य, उनके अनेक पत्रोंमें जगह-जगह देखने मिलता है और मोक्षमार्गकी उस अलौकिक दशा सम्बन्धी अनेक पहलूके दर्शन होते हैं, जो कि मुमुक्षुजीवको आत्महितार्थ बहुत उपयोगी होनेसे यहाँ उसका संक्षिप्त विवरण आलेखित है।

यहाँ एक बातका स्पष्टीकरण करना अत्यंत ज़रूरी लगता है कि, उनके वचनामृत पत्र द्वारा अलग-अलग व्यक्तिकी उस कालकी योग्यताके अनुरूप लिखे गये हैं। यह उल्लेखनीय है कि सामनेवाले जीवकी वर्तमान योग्यताको नापनेमें कृपालुदेवकी सातिशय प्रज्ञा थी। पुनः, वह समष्टिगत् उपदेशके रूपमें नहीं है, इतना ही नहीं समष्टिगत्‌रूपसे सिद्धांतका जिस प्रकारसे निरूपण होता है, उस प्रकारसे वह निरूपण नहीं है। यह बात यथास्थानमें लक्षगत् करना ज़रूरी है; वरना व्यक्तिगत मार्गदर्शन / उपदेशको

समष्टिगत उपदेश या सिद्धांत गिन लेनेसे अनर्थ होनेका अवकाश है। पुनः ऐसी अनुचित / अयथार्थ समझ होनेसे और कहना चाहते हो उस बातको सांगोपांग नहीं समझनेसे, मुख्यतया समझनेवालेको कृपालुदेवके प्रति अभक्ति आदिके परिणाम हो जानेसे, अपने आत्माको ही नहीं सोचा हो इतना बड़ा नुकसान आ पड़े ऐसा है।

समष्टिगत उपदेश और व्यक्तिगत् उपदेश किस प्रकारका होता है - उसका भेद जब तक समझमें नहीं आये तब तक, शास्त्रका अध्ययन एवम् परिचर्यन गुरुगमसे होना चाहिये। या तो उस विषयमें परिपक्व विचारदशा संप्राप्त होने पर ही, कोई भी शास्त्रका अध्ययन करनेका अधिकारत्व प्राप्त होता है। ऐसा होनेसे कृपालुदेवके वचनामृतोंमें भी त्रिकाली सिद्धांत व व्यक्तिगत उपदेशवचनोंकी समझमें अलग-अलग खतौनी करना आवश्यक है कि जिससे विपरीत समझसे संभवित नुकसान न हो; और उनके भवच्छेदक वचनामृतोंका पारमार्थिक लाभ संप्राप्त हो।

`ज्यां-ज्यां जे-जे योग्य छे, तहाँ समझवुं तेह;
त्यां-त्यां ते-ते आचर। आत्मार्थी जन एह।'

प्रस्तुत ग्रंथमें कृपालुदेवके २४ वीं सालके पत्र से कि जिसमें स्वयंकी ज्ञानदशाकी प्राप्तिका उल्लेख स्वयंने किया है, वहाँसे लेकर जो-जो वचन स्वयंकी आभ्यंतरदशाके द्योतक हैं, उन-उन वचनोंमें रहा अर्थगांभीर्य-पारमार्थिक रहस्य एवम् द्रव्यानुयोग और आध्यात्मके सिद्धांतोंको यथाशक्ति स्पष्ट करनेका प्रयास हुआ है।

तथापि, यह उल्लेख करना अस्थानमें नहीं गिना जायेगा कि इसके पहले (२४ वर्ष पूर्व) के उनके वचन, जो आत्मज्ञान (स्वानुभव) के कारणभूत ऐसी जो मुमुक्षुकी सुविचारणाकी भूमिकामें मुखरित हुए हैं, उसका भी सत्कार करने योग्य है, आदर करने योग्य है और भक्ति करने योग्य है। यहाँ उल्लेखनीय है कि परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीने अपने

खास पसंदगीके प्रवचनोंमें कृपालुदेवके १७ साल पहले लिखे गये `बोधवचन' क्रमांक - १०८ से ११७ तकके दस वचनामृतोंको स्थान दिया है। इन वचनामृतोंके प्रति पूज्य गुरुदेवश्री के उद्‌गार अनुप्रेक्षणीय हैं :

``**- यह १२ अंगका सार है।**''

इतना ही नहीं सुविचारणाका महत्त्व मोक्षमार्गकी प्राप्तिमें कितना है उस विषयमें निम्न उद्‌धृत आत्मसिद्धिशास्त्रकी गाथा - ४१ गवेषणीय है, अवगाहन करने योग्य है। :-

``ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निज ज्ञान;
जे ज्ञाने क्षय मोह थई, पामे पद निर्वाण।''

छोटी उम्रमें जातिस्मरण ज्ञानकी उत्पत्ति व असाधारण स्मरणशक्ति - ये उनके असाधारण व्यक्तित्वके अनेक पहलूमेंसे दो पहलू हैं; जिसके कारण बाह्य जगतमें उनकी प्रसिद्धि हुई, तथा पात्र मुमुक्षुओंको उनकी समीपता व सान्निध्य मिलनेका निमित्त कारण बना।

उल्लेखनीय है कि, उनकी विशेषताओंको तीन विभागमें देखा जा सकता है।

यथा :-

१. उनकी अभ्यंतर अध्यात्मदशाकी विशेषताएँ,

२. उस अध्यात्मदशाके साथ ही साथ प्रवर्तित उच्च / आदर्श व्यवहारिक परिणामोंकी, विशेषताएँ, और

३. तीर्थंकरदेवके मूलमार्गको प्रकाशित करनेकी शक्तिरूप विशेषताएँ ।

इन तीनों प्रकारकी विशेषताओंका उल्लेख, उनके ही वर्तन व वचनामृतोंसे करने योग्य है; और इस तरह उसे प्रतीत करने योग्य है, भक्ति करने योग्य है ।

❀ **परम निःस्पृहता :-** परिपूर्ण आत्मस्वरूपके अवलबंनपूर्वक सर्व बाह्य पदार्थोंके प्रति अपेक्षाबुद्धि विलय होती है; जगतके किसी भी पदार्थकी

स्पृहा नहीं रहती । इतना ही नहीं स्वस्वरूपदृष्टिकी मस्तीमें तो भावी मोक्ष-पर्यायकी भी अपेक्षा नहीं रहती है । ऐसे आशयको प्रकाशित करता हुआ उनका वचनामृत पत्रांक १६५में है कि ``**इस ज्ञानकी दिन प्रतिदिन इस आत्माको भी विशेषता होती जाती है । मैं मानता हूँ कि केवलज्ञान तकका परिश्रम व्यर्थ तो नहीं जायेगा । हमें मोक्षकी कोई जरूरत नहीं है ।**''

❀ **अद्‌भुत विदेहीदशा :-** ज्ञानदशाके प्रारंभसे ही उन्हें परिणतिमें स्वरूपमें समा जानेकी लय लगी थी । और उन्होंने बाह्य धर्म-प्रभावनाके परिणामोंको गौण करके निश्चयधर्मकी प्रधानता की है, यह स्पष्ट दिखनेमें आता है । इसके संदर्भमें उल्लेख पत्रांक १७६में प्राप्त है : ``**एक ओर तो परमार्थमार्गको शीघ्रतासे प्रगट करनेकी इच्छा है, और एक ओर अलख `लय' में समा जानेकी इच्छा रहती है.... । अद्‌भुतदशा निरन्तर रहा करती है । अवधूत हुए हैं,....**'' इसके अलावा उन्होंने पत्रांक-२५५में स्वयंकी अंतरंगदशा इन शब्दोंमें प्रकाशित की है : ``**एक पुराणपुरुष और पुराणपुरुषकी प्रेमसंपत्तिके बिना हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता; हमें किसी पदार्थमें रुचि मात्र नहीं रही है; कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं होती; व्यवहार कैसे चलता है इसका भान नहीं हैं; जगत किस स्थितिमें है इसकी स्मृति नहीं रहती; शत्रु-मित्रमें कोई भेदभाव नहीं रहा, हम देहधारी हैं या नहीं इसे जब याद करते हैं तब मुश्किलसे जान पाते हैं, ...संपत्ति पूर्ण है इसलिए संपत्तिकी इच्छा नहीं है; ...हृदय प्रायः शून्य जैसा हो गया है: पाँचों इन्द्रियाँ शून्यरूपसे प्रवृत्त होती रहती हैं । नय, प्रमाण इत्यादि शास्त्रभेद याद नहीं आते; कुछ पढ़ते हुए चित्त स्थिर नहीं रहता; खानेकी, पीनेकी, बैठनेकी, सोनेकी, चलनेकी और बोलनेकी वृत्तियाँ अपनी इच्छा अनुसार प्रवृत्ति करती रहती हैं।**'' इत्यादि वचन, उनकी अद्‌भुत विदेहीदशाको प्रकाशित करते हैं । पुनः उनके चित्तकी आत्माकार स्थितिका उल्लेख पत्रांक-३९८में देखनेको मिलता है : ``**आत्माकार स्थिति हो जानेसे चित्त प्रायः**

एक अंश भी उपाधियोगका वेदन करने योग्य नहीं है ।''

❀ **अपूर्व वीतरागता :-** मोक्षमार्गके प्रारंभमें उनकी साधनामें जो अपूर्व वीतरागता प्रगट हुई थी उसका उल्लेख पत्रांक-३१३ में इस प्रकारसे किया है : ``**कोई इस प्रकारका उदय है कि अपूर्व वीतरागताके होनेपर भी हम व्यापार सम्बन्धी कुछ प्रवृत्ति कर सकते हैं, तथा खाने-पीने आदिकी अन्य प्रवृत्तियाँ भी बड़ी मुश्किलसे कर पाते हैं । मन कहीं भी विराम नहीं पाता....चित्तका भी अधिक संग नहीं है, और आत्मा आत्मभावमें रहता है । समय-समयपर अनंतगुणविशिष्ट आत्मभाव बढ़ता हो ऐसी दशा रहती है ।**'' इसके अलावा उनके वचनामृत पत्रांक ३१७ में इस प्रकार लिखा है : ``**चित्त प्राय: वनमें रहता है, आत्मा तो प्राय: मुक्तस्वरूप लगता है। वीतरागता विशेष है । ....जगतसे बहुत उदास हो गये हैं । बस्तीसे तंग आ गये हैं""**.....इत्यादि ।

❀ **अलौकिक स्वरूप जागृति :-** गृहस्थदशा व अनेक प्रकारके व्यावसायिक प्रसंगोंके बीच भी उनकी अलौकिक स्वरूप जागृति स्पष्टरूपसे उभरकर आती है । उस जागृतिके वश स्वयंके सूक्ष्म परिणामोंका अवलोकन करते हुए, उस विषयको उन्होंने अनेक पत्रोंमें असाधारणरूपमें व्यक्त किया है । ऐसी जागृतिका उल्लेख, आराधक पुरुषोंके पुरूषार्थको स्मरणमें लेते हुए पत्रांक-७८८ में इस प्रकारसे करते हैं : ``**असारभूत व्यवहारको सारभूत प्रयोजनकी भाँति करनेका उदय रहनेपर भी जो पुरुष उस उदयसे क्षोभ न पाकर सहजभाव स्वधर्ममें निश्चलतासे रहे हैं, उन पुरुषोके भीष्मव्रतका वारंवार स्मरण करते हैं ।**''

❀ **अदम्य पुरुषार्थ :-** कृपालुदेवके जीवनकी परिणमनकी यह ऐसी कोई असाधारण विलक्षणता थी जो कि उनके प्रबल पुरुषार्थको प्रकाशित करती है । उन्होंने करीब १० सालके साधक जीवनमें ही अदम्य पुरुषार्थसे संसारको केवल एक भव तक सीमित करके निर्वाणपदकी समीपताको

संप्राप्त किया है । जिसका उल्लेख उन्होंने अपने आभ्यंतर परिणाम अवलोकन संस्मरणपोथी १/३८ में इन शब्दोंमें किया है : ``**वैश्यवेषसे और निर्ग्रंथभावसे रहते हुए कोटि-कोटि विचार हुआ करते हैं ।...निर्ग्रंथभावमें रहता हुआ चित्त उस व्यवहारमें यथार्थ प्रवृत्ति न कर सके यह भी सत्य है; जिसके लिये इन दो प्रकारकी एक स्थितिसे प्रवृत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रथम प्रकारसे प्रवृत्ति करते हुए निर्ग्रंथभावसे उदास रहना पड़े तो ही यथार्थ व्यवहारकी रक्षा हो सकती है, ...उस व्यवहारका त्याग किये बिना अथवा अत्यंत अल्प किये बिना निर्ग्रंथता यथार्थ नहीं रहती, और उदयरूप होनेसे व्यवहारका त्याग नहीं किया जाता । ये सर्व विभाव-योग दूर हुए बिना हमारा चित्त दूसरे किसी उपायसे संतोष प्राप्त करे, ऐसा नहीं लगता । उस विभावरूपसे रहनेवाले आत्मभावको बहुत परिक्षीण किया है, और अभी भी वही परिणति रहती है । उस संपूर्ण विभावयोगको निवृत्त किये बिना चित्त विश्रांतिको प्राप्त हो ऐसा नहीं लगता ।""**

उनका पुरुषार्थ तो वर्तमान भवमें ही पूर्ण दशा प्राप्त करनेका था । और उसके लिये पुरुषार्थ भी उन्होंने तीव्र रूपसे उठाया था जिसका उल्लेख उनके अंतिम वचनामृत पत्रांक-९५१ में देखनेको मिलता है : ``**अति त्वरासे प्रवास पूरा करना था । वहाँ बीचमें सहराका रेगिस्तान सम्प्राप्त हुआ । सिरपर बहुत बोझ (पूर्वकर्मका) रहा था उसे आत्मवीर्यसे जिस तरह अल्पकालमें वेदन कर लिया जाये उस तरह योजना करते हुए पैरोंने निकाचित उदयमान थकान ग्रहण की । जो (वस्तु) स्वरूप है वह अन्यथा नहीं होता ।**'' यह और ऐसे अनेक तीव्र पुरुषार्थ द्योतक भावोंका दर्शन उनके वचनामृतोंमें होता है । और उनके कड़े पुरुषार्थको देखते हुए मस्तक सहज ही झुक जाता है ।

❀ **सम्यक् औदासीन्यवृत्ति :-** ज्ञानदशाके साथ अविनाभावीरूपसे उत्पन्न होनेवाला वैराग्य उनकी आराधक दशाके पहले भी व बादमें भी

प्रबल था । जिसका दर्शन उनके अनेक पत्रोंमें होता है । वे पत्रांक-४१४ में लिखते हैं कि :- ``**गृहस्थ प्रत्ययी प्रारब्ध जब तक उदयमें रहे तब तक `सर्वथा' अयाचकताका सेवन करनेवाला चित्त रहनेमें ज्ञानीपुरूषोंका मार्ग निहित है, इस कारण इस उपाधियोगका सेवन करते हैं । यदि उस मार्गकी उपेक्षा करें तो भी ज्ञानीका अपराध नहीं करते, ऐसा है, फिर भी उपेक्षा नहीं हो सकती । यदि उपेक्षा करें तो गृहस्थाश्रमका सेवन भी वनवासीरूपसे हो, ऐसा तीव्र वैराग्य रहता है । सर्व प्रकारके कर्तव्यके प्रति उदासीन ऐसे हमसे कुछ हो सकता है तो एक यही हो सकता है कि पूर्वोपार्जितका समताभावसे वेदन करना; और जो कुछ किया जाता है वह उसके आधारसे किया जाता है, ऐसी स्थिति है ।""** और पत्रांक-५०८ में उनके द्वारा व्यक्त उद्‍गारको मुमुक्षुजीवको हृदयंगय करने योग्य है : ``**यह संसार किसी प्रकारसे रुचियोग्य प्रतीत नहीं होता; प्रत्यक्ष रसरहित स्वरूप ही दिखायी देता है; ... वारंवार संसार भयरूप लगता है । भयरूप लगनेका दूसरा कोई कारण प्रतीत नहीं होता, मात्र इसमें शुद्ध-आत्मस्वरूपको अप्रधान रखकर प्रवृत्ति होती है, जिससे बड़ी परेशानी रहती है, और नित्य छूटनेका लक्ष्य रहता है । तथा तद्‍नुसारी दूसरे अनेक विकल्पोंसे कटु लगनेवाले इस संसारमें बरबस स्थिति है ।**'' पुन: उनके वचनामृत पत्रांक -२१४ में द्रष्टव्य है : ``**हमें तो ऐसा लगता है कि इस जगतके प्रति हमारा परम उदासीन भाव रहता है; वह बिलकुल सोनेका हो तो भी हमारे लिये तृणवत् है ।**'' कृपालुदेवकी अंतर भावनाका दर्शन पत्रांक २१७ में होता है- वे लिखते हैं कि : ``**वनवासकी वारंवार इच्छा हुआ करती है । यद्यपि वैराग्य तो ऐसा रहता है कि प्राय: आत्माको घर और वनमें कोई भेद नहीं लगता,... वारंवार यही रटन रहनेसे `वनमें जाये" `वनमें जाये" ऐसा मनमें हो आता है ।**''

❀ **अदीन वृत्ति :-** ज्ञानदशामें निज परमेश्वरपदका अवलंबन रहने

से ज्ञानीपुरुषको कहीं भी किसी प्रसंगमें दीनता सहजरूपसे ही नहीं होती है । तद्‍उपरांत उदयके प्रति उपेक्षा व असावधानी रहने पर भी भविष्यकी कोई चिंता नहीं होती है । ऐसी ज्ञानदशाकी विलक्षणता है । क्योंकि सभी अज्ञानी जीवोंको भविष्यकी चिंताके आगे वर्तमानमें आत्महितका पुरुषार्थ हो ही नहीं पाता । इस संदर्भमें उनके वचनामृत पत्रांक २१७ में इस प्रकारसे है, जिसका मुमुक्षुजीव को अवधारन करना योग्य है : ``**उदयकर्म भोगते हुए दीनता अनुकूल नहीं है । भविष्यके एक क्षणका भी प्राय: विचार भी नहीं रहता ।**''

❀ **समदर्शिता :-** उनके विचारोंमें शुरूसे ही सभी आत्माओंके प्रति समदृष्टि रखनेका अभिप्राय था । जिसका दर्शन १७ वें वर्षमें रचित `अमूल्य तत्त्वविचार' काव्यमें होता है । `**सर्वात्ममां समदृष्टि द्यो; आ वचनने हृदये लखो**' इसके अलावा पत्रांक ४६९ में वे लिखते हैं कि `**जैसी दृष्टि इस आत्माके प्रति है, वैसी दृष्टि जगतके सर्व आत्माओंके प्रति है ।... जैसी इस आत्माकी सहजानंद स्थिति चाहते हैं, वैसी ही सर्व आत्माओंकी चाहते हैं । जो-जो इस आत्माके लिये चाहते हैं, वह सब सर्व आत्माओंके लिये चाहते हैं । जैसा इस देहके प्रति भाव रखते हैं, वैसा ही सर्व देहोंके प्रति भाव रखते हैं**' इत्यादि प्रकारसे इस पत्रमें उनके समदर्शित्वके गुण को प्रगट करते हुए अनेक पहलू प्रकाशित हुए हैं । जो कि जैनदर्शनकी विशालताको प्रदर्शित करते हैं ।

❀ **प्रशम दशा :-** उनकी प्रशम मुद्राके प्रत्यक्ष दर्शन जिन मुमुक्षुओंने किये होंगे, उन्हें वास्तवमें भाग्यशाली गिनना चाहिये । किंतु उनकी छविमें (जो कि महान् सद्‍भाग्यसे उपलब्ध है उसमें) आज भी उनकी प्रशमता अभिव्यक्त होती है । इस प्रकारकी प्रशमता ज्ञानीपुरुषकी बाह्याभ्यंतरदशाका एक प्रगट लक्षण है । और वह प्रयोगात्मक रूपसे ज्ञानदशाका बोध करानेवाला है । कृपालुदेवकी प्रशमदशा तो वास्तवमें अभिवंदनीय है ।

❁ **जितेन्द्रियता :-** वर्तमानकालके आयुष्यकी स्थितिका विचार करते हुए, कुमार अवस्था, युवावस्थाके प्रारंभकाल व युवावस्थाकी मध्यम स्थितिमें उनके जीवनका अवलोकन करने पर उनकी असाधारण जितेन्द्रियताका हमें दर्शन हो सकता है । पंचेन्द्रिय के विषयके प्रति उनके विचारको देखते हुए `अप्रतिम वैराग्य' उनके वचनोंमें जगह-जगह देखने को मिलता है । जीवनके उत्तरार्धमें तो उन्होंने जैसे भर जुवानीमें सर्वसंग परित्याग किया हो वैसे आहार आदिका संक्षेप भी कर दिया था । किसी भी इन्द्रियके विषयने उन्हें आकर्षित किया हो, ऐसा ढूँढ़ने जाये तो भी नहीं मिले ऐसा है । संक्षेपमें ऐसा अवश्य कह सकते हैं कि, वे गृहस्थवेशमें भी एक महान योगिराज थे ।

❁ **सहजता :-** सहज आत्मस्वरूपके साथ अभेद भावसे वर्तती ज्ञानीपुरुषकी दशामें सहजता उत्पन्न हो जाती है । जो कि ज्ञानदशाके अनेक मुख्य लक्षणोंमे से एक मुख्य लक्षण है । कृपालुदेवकी दशामें भी सहजता जगह-जगह देखनेको मिलती है । जिसका उल्लेख उन्होंने पत्रांक ६१९ में किया है : ``**....जो सहजमें बन आये उसे करनेकी परिणति रहती है;**'' यानी कि वैसी परिणतिमें सहजता करनी नहीं पड़ती बल्कि आराधक दशाके कारण ऐसी सहजता उत्पन्न हो जाती है ।

❁ **लोकोत्तर सरलता :-** उनकी सरलताका प्रकार तो वास्तवमें वंदनीय है । मुमुक्षुओंसे अत्यंत उच्च कोटिकी ज्ञानदशा को संप्राप्त होनेपर भी, उन्होंने अपने परिणामोंका निवेदन (अस्थिरताके वश अल्पदोषयुक्त हो, उसे भी) अनेक पत्रोंमें अत्यंत सरलभावसे किया है । जिसका अनुसरण करते हुए कृपालुदेवके जीवनको स्वयं बोधस्वरूप जानकर मुमुक्षुओंने भी अपने दोषोंका निवेदन करनेकी सरलता प्राप्त की थी । शिष्य अगर ज्ञानी सद्गुरुके आगे अपने दोषोंका निवेदन करे, तो वह तो उचित ही है, लेकिन ज्ञानी अपने दोषोंका निवेदन करे, वह तो लोकोत्तर सरलता है । कृपालुदेवके

वचनामृतोंमें ऐसी अलौकिक सरलताका दर्शन जगह-जगह होता है ।

❁ **मध्यस्थता :-** कृपालुदेवकी मध्यस्थता असाधारण थी । जिसके प्रभावसे आज भी उनके अक्षरदेहरूप वचनामृतोंसे आकर्षित होकर भिन्न - भिन्न संप्रदायोंसे अनेक पात्र जीव संप्रदायबुद्धिका त्याग करके, मूलमार्गको स्वीकार करने लगे हैं । जैनके अलावा अन्य मत सम्बन्धि उनका पत्रव्यवहार समकालीन प्रख्यात विद्वान् श्री मनसुखराम सुरीराम त्रिपाठी एवं श्री मोहनदास करमचंद गांधी (महात्मा गांधी) के साथ हुआ था, जिसमें उन्होंने अत्यंत मध्यस्थतापूर्ण उनके पत्रोंका प्रत्युत्तर दिया है । जो कि मध्यस्थता प्रगट करनेके लिये मुमुक्षुजीवको वारंवार अनुप्रेक्षा करने योग्य है । आज अनेकानेक जैनेतर लायक मुमुक्षुओंको कृपालुदेवके वचनामुतके प्रति जो बहुमान व भक्ति स्फुरित होती है, वह उनकी मध्यस्थताका प्रबल व जीवंत उदाहरण है । उनका पंद्रह सालकी उम्रमें लिखा हुआ यह वचनामृत (पुष्पमाला-१५) अत्यंत प्रसिद्ध है : ``**तूँ चाहे जिस धर्मको मानता हो, मुझे उसका पक्षपात नहीं है । मात्र कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस मार्गसे संसारमलका नाश हो, उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचार का तूँ सेवन कर ।**'' इस तरह मध्यस्थभावसे किसी भी धर्मकी चर्चा करने पर भी वे असाधारण विचिक्षणतासे मूलमार्ग (-श्री तीर्थंकरदेवके मार्ग) की उत्कृष्टताका प्रतिपादन / स्थापना करनेमें चुके नहीं हैं; अनेक जीवोंको सन्मार्गमें लगाया है । जिसके बदलेमें उनके जितने भी गुणानुवाद करें, कम पड़ते हैं ।

❁ **गुण गंभीरता :-** दुर्लभ एवं महान ज्ञानदशा प्राप्त होने पर भी वे अप्रगट-गुप्त रहना चाहते थे, जिससे बाह्य प्रसिद्धि जो कि मोक्षमार्गके लिये बहुत प्रतिकूल है, उससे बच सकें । उसका निर्देश पत्रांक-१९२ में मिलता है : ``**इसलिये अनुरोध है कि हम अभी कोई परमार्थज्ञानी हैं अथवा समर्थ हैं ऐसी बात प्रसिद्ध न करें; क्योंकि यह हमें वर्तमानमें प्रतिकूल जैसा है ।**'' और पत्रांक : १७० में ऐसे वचन देखनेको मिलते हैं : ``**इसलिये**

अभी तो केवल गुप्त हो जाना ही योग्य है । एक अक्षर भी इस विषयमें कहनेकी इच्छा नहीं होती.......सर्व प्रकारसे गुप्तता रखी है । अज्ञानी होकर वास करनेकी इच्छा बना रखी है ।''

❁ **परेच्छाचारिता :-** Eआत्मपरिणतिमें अखंडरूपसे रहनेके लिये यानी कि बाधा नहीं हो तद् हेतु उन्होंने बाह्य प्रवृत्तिमें दूसरोंकी इच्छाका अनुसरण करनेकी नीति अपनाई थी । इस प्रकारकी विचक्षणता उनके पत्रांक ३७६ में देखनेको मिलती है : ``**अभी जिस प्रवृत्तियोगमें रहते हैं वह तो बहुत प्रकारकी परेच्छाके कारणसे रहते हैं**'' और भी पत्रांक ३१७ में भी ऐसे वचन द्रष्टव्य हैं : ``**चित्त प्राय: वनमें रहता है, आत्मा तो प्राय: मुक्तस्वरूप लगता है । वीतरागता विशेष है । बेगारकी भाँति प्रवृत्ति करते हैं । दूसरोंका अनुसरण भी करते हैं ।**''

❁ **सम्यक् आचरणा :-** परम कृपालुदेवके बाह्य संयोगकी अपेक्षा से सामान्य मनुष्योंके जैसे ही सांसारिक प्रवृत्तिमें प्रवृत्ति करते हुए दिखने पर भी, अंतरंगमें एकदम असंगवृत्तिसे रह सकते थे । क्योंकि उन्हें किसी भी प्रकार के संयोगमें स्वपना अनुभवगोचर नहीं होता था । (देखिये पत्रांक :- ३२९) इसके अलावा परानुकंपासे भी उदय को वेदन करने का उनसे बना था । जिसका उल्लेख उन्होंने पत्रांक-४०८ में इस प्रकारसे किया है : ``**तथापि जिसमें स्नेह नहीं रहा, अथवा स्नेह रखनेकी इच्छा निवृत्त हुई है, अथवा निवृत्त होने आयी है, ऐसे इस संसारमें कार्यरूपसे-कारणरूपसे प्रवर्तन करनेकी इच्छा नहीं रही, उससे निवृत्ति ही आत्मामें रहा करती है, ऐसा होनेपर भी उसके अनेक प्रकारके संग-प्रसंगमें प्रवर्तन करना पड़ता है ऐसा पूर्वमें किसी प्रारब्धका उपार्जन किया है, जिसे समपरिणामसे वेदन करते हैं तथापि अभी भी कुछ समय तक वह उदययोग है, ऐसा जानकर कभी खेद पाते हैं कभी विशेष खेद पाते हैं, और विचारकर देखनेसे तो उस खेदका कारण परानुकंपा ज्ञात होता है ।**'' पत्रांक-३३९में व्यवहारिक

प्रवृत्ति सम्बन्धी उनके वचनामृतोंको लक्ष्यमें लेने जैसा है : ``**अभी जो कुछ व्यवहार करते हैं, उसमें देह और मनको बाह्य उपयोगमें प्रवृत्त करना पड़ता है । आत्मा उसमें प्रवृत्त नहीं होता । क्वचित् पूर्वकर्मानुसार प्रवृत्त करना पड़ता है, जिससे अत्यंत आकुलता आ जाती है । जिन कर्मोंका पूर्वमें निबंधन किया गया है, उन कर्मोंसे निवृत्त होनेके लिये, उन्हें भोग लेनेके लिये, अल्पकालमें भोग लेनेके लिये, यह व्यापार नामके व्यवहारिक कामका दूसरेके लिये सेवन करते हैं ।**'' ऐसे व्यवहारिक कार्य करते हुए भी उनके परिणामकी स्थिति किस प्रकारकी रहती थी, वह पत्रांक-३४७ में दर्शित होती है : ``**जानते हैं कि जो परिणाम बहुत कालमें होनेवाला है वह उससे थोड़े कालमें प्राप्त होनेके लिये वह उपाधियोग विशेषत: रहता है... अभी यहाँ हम व्यवहारिक काम तो प्रमाणमें बहुत करते हैं, उसमें मन भी पूरी तरह लगाते हैं, तथापि वह मन व्यवहारमें नहीं जमता, अपनेमें ही लगा रहता है, इसलिये व्यवहार बहुत बोझारूप रहता है ।**'' इस तरह प्रारब्धकी निवृत्तिके हेतु वे उदयको सम्यक् प्रकारसे वेदन करते थे । उनका ऐसा सम्यक् आचरण था । इस सम्बन्धमें उनकी आत्मशक्ति बलवान होनेके कारण उदयकालमें विशेष पुरुषार्थसे पूर्वकर्मकी विशेष निर्जराके हेतु उपाधियोगका त्याग करनेके बजाय वे सम्यक् प्रकारसे पूर्वकर्मको भोग लेते थे । उनकी आध्यात्मदशाका अवलोकन करते हुए यह एक रहस्यभूत विषय समझमें आता है । इसके सम्बन्धमें स्पष्ट उल्लेख पत्रांक ३९८में है : ``**अभी जो उपाधियोग प्राप्त हो रहा है, यदि उस योगका प्रतिबन्ध त्यागनेका विचार करे तो वैसा हो सकता है; तथापि उस उपाधियोगको भोगनेसे जो प्रारब्ध निवृत्त होनेवाला है, उसे उसी प्रकारसे भोगनेके सिवाय दूसरी इच्छा नहीं होती; इसलिये उसी योगसे उस प्रारब्धको निवृत्त होने देना योग्य है, ऐसा समझते हैं;...**'' ऐसा होने पर भी, अंतरंग पारमार्थिक निवृत्त दशाको बाह्य उपाधि व्यवहारसे अनुकूल नहीं है, अत:

उन्हें उपाधिसे छूटनेकी तीव्र वृत्ति रहा करती थी । जिसका उल्लेख उन्होंने पत्रांक ५६९ में किया है : ``**अब इस उपाधिकार्यसे छूटनेकी विशेष-विशेष आर्त्ति हुआ करती है, और छूटे बिना जो कुछ भी काल बीतता है, वह इस जीवकी शिथिलता ही है, ऐसा लगता है; अथवा ऐसा निश्चय रहता है । जनकादि उपाधिमें रहते हुए भी आत्मस्वभावमें रहते थे, ऐसे आलंबनके प्रति कभी भी बुद्धि नहीं जाती...नित्य छूटनेका विचार करते हैं और जैसे वह कार्य तुरंत पूरा हो वैसे जाप जपते हैं** '' इस प्रकारसे प्रवर्तती उनकी सम्यक् आचरणा नि:संदेह अभिवंदनीय है, अनुकरणीय है ।

❀ **उपाधिमें समाधि :-** कृपालुदेवका व्यवहार उपाधिमें रहना पूर्व प्रारब्धयोगसे होता था; जो कि आराधकदशासे प्रतिकूल होने पर भी, वे अंतरंग समाधिभावमें निरंतर रहते थे । जिसका उल्लेख उनके अनेक पत्रोंमें देखनेको मिलता है । जिसका नमूना पत्रांक २४७ में इस प्रकारसे है : ``**चित्तकी दशा चैतन्यमय रहा करती है; जिससे व्यवहारके सभी कार्य प्राय: अव्यवस्थासे करते हैं । हरीच्छा (भवितव्य) को सुखदायक मानते हैं । इसलिये जो उपाधियोग विद्यमान है, उसे भी समाधियोग मानते हैं ।**'' अर्थात् सम्यक्ज्ञानमें चारों पहलूसे, सभी प्रकारके संयोग-वियोगमें कहीं भी असमाधान नहीं होता; परन्तु सहज समाधिभाव रहता है । जो कि उन्होंने कई बार पत्रके द्वारा बताया है । पत्रांक:४०८ व ७१०के वचनामृत (उदय-प्रवृत्तिमें खेद, फिर भी सम्यक्प्रकारसे समता भावसे वेदन करनेमें आते हैं ।) उसके उदाहरणरूप हैं।

उनकी आराधना के साथ-साथ वर्तती दूसरी अनेकविध विशेषताएँ भी उल्लेखनीय हैं । अंतर आराधनाके साथ-साथ उसके अनुरूप व अनुकूल ऐसे बाह्य परिणमनमें अनेकविध प्रकारसे उनके अनेक गुण भी मुमुक्षुजीवको अवलोकनमात्रसे उपकारी हों ऐसे हैं। जिसका यत्किंचित् वर्णन इस

प्रकारसे है।

❀ **सातिशय ज्ञानयोग :-** परमकृपालुदेवके चित्तमें जब किसी भी बातकी स्फुरणा होती थी तब वह बहुतसे नययुक्त होती थी, यानी कि किसी एक बातके समर्थनमें अनेक नयोंकी संधि उनके ज्ञानमें स्फुरित हो आती, वैसा उल्लेख उन्होंने अपने शब्दोमें पत्रांक-२२३ में किया है । ``**लेखनशक्ति शून्यताको प्राप्त हुई जैसी होनेका कारण एक यह भी है कि चित्तमें उद्भूत बात बहुत नयोंसे युक्त होती है, और वह लेखनमें नहीं आ सकती है; ...(संभवित नहीं है)**'' तद्उपरांत उनके उपयोगकी तीक्ष्णता-तीव्रता-विशालताका उल्लेख पत्रांक-९१७ में देखनेको मिलता है : ``**एक श्लोक पढ़ते हुए हमें हज़ारों शास्त्रोंका भान होकर उसमें उपयोग घूम आता है (अर्थात् रहस्य समझमें आ जाता है) ।**''

❀ **विवेकदृष्टि :-** परम कृपालुदेवकी विवेकदृष्टिका विचार किया जाय तो किसी भी जीवका मस्तक झुक जाय ऐसी है । कोई भी लौकिक अथवा पारमार्थिक व्यवहार सम्बन्धित प्रश्न उपस्थित होकर उनके सामने आता है तब उनका उपयोग चारों पहलूसे उसका विचार करता हुआ दिखता है । इस विषयमें उनके पत्रोंमें विभिन्न कोटिके मुमुक्षुओंको जो मार्गदर्शन दिया है, इसका अगर विस्तार किया जाये तो इस विषयमें एक पूरी पुस्तक बन जाये ऐसा है । लेकिन संक्षेपमें इतना जरूर कह सकते हैं कि सम्यक्ज्ञानसे सुशोभित उनके ज्ञानका यथार्थपना उनके अनेक प्रकारके मार्गदर्शनमें प्रतीत होता है, अर्थात् उनकी ज्ञानदशाकी प्रतीति कराता है, और जिससे उनके प्रति भक्ति उत्पन्न होनेका सबल कारण प्राप्त होता है. ।

❀ **गुण-प्रमोद :-** इस विषयमें उनका गुण-ग्राहकपना अथवा गुण प्राप्तिकी दृष्टि बहुत तीक्ष्ण थी, ऐसा समझमें आता है । वे चारों अनुयोगोंमेंसे सर्वत्र आत्मगुण प्रगट करनेका आशय खींच लेते थे । इतना ही नहीं, अन्यमतमें जन्म हुआ हो ऐसे मार्गानुसारी महात्माओंके वचन भी आत्मगुण

प्रगट होनेमें किस प्रकारसे प्रेरणा करते हैं, ऐसा आशय खींचकर व्यक्त करनेवाले उनके वचन शायद वर्तमान साहित्यमें अजोड़ हैं। इसके अलावा वे किसी भी व्यक्तिके दोषोंको गौण करके, उसके गुणके अल्प अंशको भी मुख्य करते थे । जिसके संदर्भमें उनकी एक पंक्तिका यहाँ उद्धरण करने योग्य है : ``**गुणप्रमोद अतिशय रहे, रहे अंतर्मुख योग ।**'' जैनदर्शनके अनुयोगके संदर्भमें प्रवाहित हुआ यह पद्य, गुणप्रमोदकी फलश्रुतिको अंतर्मुखतामें अभिव्यक्त करता हुआ प्रवाहित हुआ है । जो हमें उनकी गुण-प्रमोदताका दर्शन कराता है।

❀ **वात्सल्य और प्रभावना :-** अपनी आत्मदशासे जिन्होंने `निश्चयप्रभावना' प्रगट की है, ऐसे धर्मात्माकी ऐसी नीति होती है कि `व्यवहारप्रभावना" के प्रसंगमें जो जीव उनके समीपमें-सानिध्यमें आता है उसका स्थितिकरण वे बहुत विचिक्षणतासे करते हैं, और वात्सल्य करते हैं । यह व्यवहार प्रभावनाके मुख्य अंग हैं । महान् ज्ञानी श्रीमद् राजचंद्रजी व उनके समीपमें आनेवाले मुमुक्षुजीवोंके बीचमें हुए पत्रव्यवहारकी अगर इस दृष्टिकोणसे गवेषणा की जाय तो इस विषयमें उनकी असाधारण विचक्षणताका व प्रज्ञाका दर्शन होगा। किसी भी अन्यमत पंथमेंसे आनेवाले जीवको वे प्रथम जिज्ञासामें रखकर, मृदु भाषामें आवकार देते हैं और वात्सल्यता, मध्यस्थता व सरलतापूर्वक उसके साथ यथोचित् व्यवहार/वर्तन/उपचार/मार्गदर्शन करते हैं कि जिससे आनेवाला मुमुक्षु ज्ञानीसे कतई दूर न हो जाय । उसमें भी श्री सौभाग्यभाई जैसे अनेक मुमुक्षुओंको तो जैसे हाथ पकड़कर संसारसमुद्रमें से बाहर निकालते हो, बचा लेते हों-ऐसी परिस्थिति स्पष्ट मालूम पड़ती है ।

❀ **निष्कारण कारुण्यवृत्ति :-**ज्ञानदशाके अनुरूप उक्त अनेक विशेषताओंके अलावा, अन्य मुमुक्षुजीवोंके प्रति उनकी अभिन्नभावसे निष्कारण कारुण्यवृत्ति भी असाधारण थी । इस विषयमें उनके वचन पत्रांक-१९२

में द्रष्टव्य हैं; ``**हमारी वृत्ति जो करना चाहती है, वह निष्कारण परमार्थ है,...**'' और वे पत्रांक-३९८में कहते हैं कि : ``**कालका ऐसा स्वरूप देखकर हृदयमें बड़ी अनुकम्पा अखंडरूपसे रहा करती है। अत्यन्त दु:खकी निवृत्तिका उपायभूत जो सर्वोत्तम परमार्थ है उस सम्बन्धी वृत्ति जीवोंमें किसी भी प्रकारसे कुछ भी वर्धमानताको प्राप्त हो, तभी उन्हें सत्पुरुषकी पहचान होती है, नहीं तो नहीं होती । वह वृत्ति सजीवन हो और किन्हीं भी जीवोंको- बहुतसे जीवोंको-परमार्थसम्बन्धी मार्ग प्राप्त हो, ऐसी अनुकम्पा अखंडरूपसे रहा करती है;**'' तदोपरांत पत्रांक-५२३में भी वे कहते हैं कि : ``**अनेक जीवोंकी अज्ञान दशा देखकर, फिर वे जीव `हम कल्याण करते हैं' अथवा `हमारा कल्याण होगा,' ऐसी भावना या इच्छासे अज्ञानमार्गको प्राप्त होते हुए देखकर, उसके लिये अत्यंत करुणा उद्भव होती है, और किसी भी प्रकारसे यह दूर करने योग्य है, ऐसा हो जाता है; अथवा वैसा भाव चित्तमें जैसाका तैसा रहा करता है ।**''

❀ **अलौकिक विनम्रता :-** कृपालुदेवके जीवनमें जिस प्रकारकी विनम्रता देखनेको मिलती है वैसा दूसरा दृष्टांत कहीं भी देखनेको नहीं मिलता है । वैसी अजोड़ विनम्रताके दर्शन उनके वचनामृतोंमें अनेक प्रकारसे होते हैं । वे पत्रांक-२१० में लिखते हैं कि : ``**हमपर आपकी चाहे जैसी भक्ति हो, परन्तु सब जीवोंके और विशेषत: धर्मजीवके तो हम त्रिकालके लिये दास ही हैं ।**''कृपालुदेवके चित्तकी अध्यात्ममय दशाके कारण मुमुक्षुजीवोंको प्रत्युत्तर देरसे लिखना अथवा प्रत्युत्तर नहीं लिख सकना बनता था, जिसके कारण उन्होंने अनेक पत्रोंमें क्षमा माँगी है। यद्यपि ऐसा होनेका कारण उनकी महान् अध्यात्मपरिणति है; इसलिये वे क्षमा माँगनेके योग्य (तो) नहीं हैं, फिर भी उन्होंने ऐसा होने पर मुमुक्षुजीवोंसे क्षमा माँगी है । इस प्रकार उनकी अलौकिक / असाधारण विन्रमता प्रदर्शित होती है । इसके अलावा पत्रांक-५२३ उनके अंतरंगको प्रदर्शित करता

है : ``**बाह्य माहात्म्यकी इच्छा आत्माको बहुत समयसे नहीं जैसी ही हो गयी है, अर्थात् बुद्धि प्राय: बाह्य माहात्म्यकी इच्छा करती हुई प्रतीत नहीं होती ।**'' उनकी स्मृति असाधारण होनेके कारण शतावधान आदि प्रयोग से उनकी ख्याति बढ़ी थी, फिर भी २३वें वर्षमें लिखी हुई `समुच्चयवयचर्या' में उनके नम्रता सूचक वचन इस प्रकार हैं : ``**सात वर्षसे ग्यारह वर्ष तकका समय शिक्षा लेनेमें बीता । आज मेरी स्मृतिको जितनी ख्याति प्राप्त है, उतनी ख्याति प्राप्त होनेसे वह किंचित् अपराधी हुई है;**'' इसके अलावा पत्रांक-७०८ में उनके निजावलोकन पूर्वक वचन इस प्रकार से हैं : ``**धर्म स्थापित करनेका मान बड़ा है; उसकी स्पृहासे भी कदाचित् ऐसी वृत्ति रहे, परन्तु आत्माको बहुत बार कसकर देखनेसे उसकी सम्भावना वर्तमान दशामें कम ही दिखती है ।**'' यह वचनामृत ऐसा सूचित करता है कि उन्होंने अपूर्व आत्मजागृतिपूर्वक मानकषाय पर विजय प्राप्त की थी । जो कि मुमुक्षुजीवको अनुसरण करनेके लिये उपकारी है और वास्तवमें भक्ति करने योग्य है ।

❁ **निर्ग्रंताकी भावना :-** उनके परिणमनमें नोंध करने लायक एक पहलू यह भी है कि उन्हें पूर्णताके ध्येयके कारण यथार्थ पुरुषार्थकी उग्रता वर्तती थी और उस कारणसे उन्हें युवानवयमें ही सर्वसंगपरित्याग करके बाह्याभ्यंतर निर्ग्रंथ होनेकी उत्कट भावना रहती थी । इस विषयमें, उन्होंने अपनी अंतर भावना संस्मरणपोथी १(४५) में व्यक्त की है : ``**हे जीव** ! **अब तूँ संगनिवृत्तिरूप कालकी प्रतिज्ञा कर, प्रतिज्ञा कर** ! **....ऋषभ आदि सर्व परम पुरुषोंने अन्तमें ऐसा ही किया है**'' पुन: उनके ह्रदयमें रही हुई यह भावना पत्रांक ४५३ में भी इन शब्दोंमें स्फुरित हुई है; ``**मनमें ऐसा ही रहा करता है कि अल्पकालमें यह उपाधियोग मिटकर बाह्याभ्यंतर निर्ग्रंथता प्राप्त हो तो अधिक योग्य है । तथापि यह बात अल्पकालमें हो ऐसा नहीं सूझता, और जब तक ऐसा नहीं होता तब तक वह चिन्ता मिटनी सम्भव नहीं है ।**'' इसी प्रकारकी भावना उन्होंने पत्रांक ५६०में व्यक्त की है :

``**उसमें अवश्य आत्मदशाको भुलाने जैसा सम्भव रहे, वैसे उदयको भी यथाशक्ति समपरिणामसे सहन किया है । यद्यपि उस सहन करनेके कालमें सर्वसंगनिवृत्ति किसी तरह हो तो अच्छा, ऐसा सूझता रहा है;**'' इसके अलावा उनकी बाह्याभ्यंतर निर्ग्रंथताकी भावनाकी अभिव्यक्ति करनेवाला ``अपूर्व अवसर'' काव्य तो जगप्रसिद्ध है ही । धन्य है उनकी आराधना !!

❁ **कथन-अविरुद्धता :-** जिन्हें अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञानमें निजात्मस्वरूप अनुभवगोचर हुआ हो, ऐसे किसी भी ज्ञानीपुरुषके वचनमें पूर्वापर वचन-विरुद्धता कहीं भी होती ही नहीं। ये खास लक्ष्यमें रखने जैसा है। आत्मपदार्थमें कुछएक परस्पर विरुद्ध धर्म हैं और वे एक ही पदार्थकी सत्तामें रहने के कारण उनकी अभिव्यक्ति स्वानुभवविभूषित पुरुषके वचनमें ही हो सकती है। दूसरे जीवोंको, कि जिन्हें, स्वानुभव नहीं है परन्तु शास्त्रका पठन-पाठन है वैसे जीवोंको पदार्थदर्शन नहीं होनेके कारण पूर्वापर विरोधपना आये बिना नहीं रहता । ज्ञानीपुरुषके वचनोंका पूर्वापर अविरोधपना-वह खास प्रकारका विलक्षण स्वरूप है और वह जिसको समझमें / पहचानमें है उसको तो उन ज्ञानीके प्रति अत्यंत अहोभाव सहज उत्पन्न होता है । ऐसी कथन-अविरुद्धता कृपालुदेवके वचनोंमें रही है ।

❁ **विधि-दर्शकता :-** बारह अंगका सारभूत सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय अगर कोई है तो वह अंतर्मुख होकर स्वस्वरूप प्राप्तिकी विधि / कार्यपद्धति का है और वह स्वानुभवी ज्ञानीपुरुषकी वाणीके अलावा कहीं भी प्राप्त होना असम्भवित है । स्वस्वरूपप्राप्तिकी विधिकी सूक्ष्मता व अंतरध्वनिकी अभिव्यक्ति एकमात्र ज्ञानीपुरुषकी वाणीमें ही होती है, ऐसी वस्तुस्थिति है । कृपालुदेवने इस विषयमें (ज्ञानीपुरुषकी वाणी सम्बन्धित) कुछ एक लक्षण पत्रांक ६७९ में प्रसिद्ध किये है; उसमें आत्मभान करनेका आशय, पदार्थदर्शनके कारण विरुद्ध स्वभावोंका भी अविरुद्ध निरूपण, आत्मार्थ उपदेशकपना, अपूर्वस्वभावके अपूर्व अर्थका निरूपण, आत्मजागृतिके कारण सतत जागृत करनेवाली,

शुष्कतारहित अध्यात्म निरूपण, वास्तविक व यथास्थित पदार्थ निरूपण इत्यादि लक्षणोंको कृ.देवने अपने स्वानुभव से दर्शाया है। और इसलिये वर्तमान निकृष्ट कालमें भी अखंड मोक्षमार्ग जीवित रह पाया है ।

❀ **धर्म प्रवृत्तिमें विचिक्षणता :-** श्री तीर्थंकरदेवके मार्गको प्रकाशित करनेकी शक्ति होने पर भी यानी कि सामर्थ्य होने पर भी (पत्रांक : ७०८) दूसरे जीवोंको शंका हो ऐसा बाहरमें प्रारब्ध योग होनेसे उन्होंने मूलमार्गका उपदेश नहीं किया है - ऐसा अनेक पहलुओंसे सोचा था । इस विषयमें लिखे गये पत्रांक-५०० व ५८२ विशेषरूपसे गवेषणा करने योग्य हैं। पत्रांक ६२१ में लोगों को नुकसान नहीं हो इस दृष्टिकोणसे भी कृपालुदेवने समाज के बीच (-समष्टिगतरूपसे) धर्मप्रकाशक रूपसे प्रवृत्ति नहीं की है ऐसा उल्लेख उनके शब्दोंमें इस प्रकार है: ``**इस आत्माके सम्बन्धमें अभी बाहर किसी प्रसंगकी चर्चा होने देना योग्य नहीं है; क्योंकि अविरतरूप उदय होनेसे गुणाभिव्यक्ति हो तो भी लोगोंको भास्यमान होना कठिन पड़े; और उससे विराधना होनेका कुछ भी हेतु हो जाय; तथा पूर्व महापुरुषके अनुक्रमका खंडन करने जैसा प्रवर्तन इस आत्मासे कुछ भी हुआ समझा जाय ।**'' उनकी इस विषयमें अनेक पहलुओंसे काफी सूक्ष्म विचारणा चली थी इसका उल्लेख उनकी संस्मरणपोथी-१(७३) में मिलता है; ``**एक राज्यके प्राप्त करनेमें जो पराक्रम अपेक्षित है उसकी अपेक्षा अपूर्व अभिप्रायसहित धर्म संततिका प्रवर्तन करनेमें विशेष पराक्रम अपेक्षित है । थोड़े समय पहले तथारूप शक्ति मुझमें मालूम होती थी ।**'' तथारूप शक्ति खुद में थी फिर भी अनेकविध कारणोंसे वे गुप्त रहे थे । उसमेंसे एक सूक्ष्म बात, अति गूढ़ वचनोंमें इसी संस्मरणपोथीमें (१/७३में) देखनेको मिलती है : ``**दर्शनकी रीतिसे इस कालमें धर्मका प्रवर्तन हो इससे जीवोंका कल्याण है अथवा संप्रदायकी रीतिसे प्रवर्तन हो तो जीवोंका कल्याण है, यह बात विचारणीय है । संप्रदायकी रीतिसे वह मार्ग बहुतसे जीवोंको ग्राह्य होगा,**

दर्शनकी रीतिसे वह वीरल जीवोंको ग्राह्य होगा । यदि जिनाभिमत मार्ग निरूपण करने योग्य गिना जाये, तो वह संप्रदायके प्रकारसे निरूपित होना विशेष असंभव है । क्योंकि उसकी रचनाका सांप्रदायिक स्वरूप होना कठिन है । दर्शनकी अपेक्षासे किसी ही जीवके लिये उपकारी होगा इतना विरोध आता है ।''

उपरोक्त प्रकारसे उन्हें मार्ग प्रवर्तनकी रीति नीतिके विषयमें बहुत सूक्ष्म व गहन विचार आये हैं, और परस्पर विरूद्ध बातोंका ऊँडा (गहन) विचार चला है, ऐसा उनके उक्त वचनोंसे समझमें आ सकता है । ये सभीके निष्कर्षरूप से उन्होंने स्वयंकी आराधनाको मुख्य करके, गौणरूपसे जो-जो जीव पात्र दिखे उनके बीच द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावकी मर्यादामें रहते हुए, यथार्थरूपसे व योग्य रीतिसे मार्ग-प्रवर्तनकी प्रवृत्ति की है । ऐसा समझमें आता है ।

स्वयंके उदयभाव व औदयिक संयोगोंकी परिस्थितिको देखते हुए, शासनकी प्रवर्तनाके अंतरंग गुणोंके होने पर भी, शासननायक अथवा उपदेशके स्थानमें रहकर, उन्होंने धर्मप्रवृत्ति नहीं की है, यह इस विषयमें उनकी गहन विचारणा व दीर्घदर्शिताको प्रदर्शित करता है ।

गुण संकीर्तक :
श्रद्धेय पू. `भाईश्री' शशीभाई

``महात्माके प्रति जिसका दृढ़ निश्चय होता है, उनको मोहासकित मिटकर पदार्थ निर्णय होता है। इसलिये व्याकुलता मिट जाती है। इसलिये निःशंकता आती है। इसी कारण जीव सर्व प्रकारके दुःखसे निर्भय होता है और इसलिये ही निःसंगता उत्पन्न होता है, और ऐसा योग्य है।''

श्रीमद्जी सम्बन्धी उद्गार

(श्री आत्मसिद्धिशास्त्र परके प्रवचनमें से)

``जिन्होंने इस पंचमकालमें सत्धर्मको ज़ाहिर किया, और स्वयंने अनन्त भवका अंत लाकर, एक ही भव बाकी रहे ऐसी पवित्रदशा आत्मामें प्रगट की, ऐसे पवित्र पुरुषका अति अति बहुमान होना चाहिये... धन्य है, उन्हें !

मैं चौकस कहता हूँ कि गुजरात - काठियाडमें यदि वर्ममानकालमें मुमुक्षु जीवोंके परम उपकारी कोई है तो वह श्रीमद् राजचंद्र है। गुजराती भाषामें `आत्मसिद्धि' लिखकर जैन शासनकी शोभा बढ़ाई है। इस कालमें उनके जैसे महत् पुरुष मैंने नहीं देखे। उनके एक-एक वचनमें गहरा रहस्य है। जो कि बिना सत्समागम समझमें आये वैसा नहीं है....

श्रीमद्के जीवनको समझनेके लिये मताग्रहसे-दुराग्रहसे दूर रहकर, उनके पवित्र जीवनको मध्यस्थतासे देखना चाहिये, ज्ञानीकी विशाल दृष्टिसे न्यायसे सोचना चाहिये। उनकी भाषामें अपूर्व भाव भरें हैं, जिसमें वैराग्य, उपशम, विवेक, सत्समागम सब हैं। बालकसे लेकर आध्यात्मिक सत्स्वरूपकी पराकाष्टा तक पहूँचे हुए, गहरे-गहरे न्याय, गंभीर अर्थ उनकी लिखाईमें है। व्यवहारनीतिसे लेकर पूर्ण शुद्धता - केवलज्ञान तककी भनक उसमें है, ज्ञानबलके किसी अपूर्व योगमें वह लिखें गये हैं।

उनके अंतरमें वीतराग शासनकी प्रभावना हो, सनातन जैन धर्म जयवंत रहे, उसमें निमित्त बननेकी गहराईसे भावना थी; परन्तु उस कालमें मताग्रहीयोंके जूथ बहुत थे, और गृहस्थवेषमें होनेसे उनके पास जानेमें और परमार्थ पानेमें, बाह्यदृष्टि जीवोंको अपने पक्षका आग्रह विघ्नरूप हुआ है।''

- पूज्य श्री कानजीस्वामी

श्रीमद्जी सम्बन्धी उद्गार

जैसे-जैसे कृपालुदेव (श्रीमद् राजचंद्रदेव) के वचनामृतका गहराईसे अवगाहन होता है, वैसे-वैसे उनकी अद्‌भुत अंतर्बाह्य दशाका अलौकिक स्वरूप विशेषरूपसे समझमें आता है। अहो ! उनकी आत्मामय अध्यात्मदशा !! अहो ! अहो !

अहो ! उनकी उदयमें प्रवृत्ति होते हुए भी भिन्नता, अप्रतिबद्धता ! निर्लेपता और निस्पृहता ! अहो ! अहो !

अहो ! उनका सत्संग एवं सत्पुरुषके प्रति आदरभाव ! उपलब्ध जैन वांग्मयमें ऐसे जीवंत उदाहरणकी जोड़ दृश्यमान नहीं होती है। इस विषयमें तो उन्होंने हद कर दी है, श्री सौभाग्यभाईके चरणमें दासत्वभावसे नमस्कार करके !! (पत्रांक-४५३)

- पूज्य भाईश्री शशीभाई

महात्माओंकी शिक्षा

उपयोग-लक्षणसे सनातन-स्फुरित ऐसे आत्माको देहसे, तैजस और कार्मण शरीरसे भी भिन्न अवलोकन करनेकी दृष्टि सिद्ध करके, वह चैतन्यात्मकस्वभाव आत्मा निरंतर वेदक स्वभाववाला होनेसे अबंधदशाको जब तक संप्राप्त न हो तब तक साता-असातारूप अनुभवका वेदन किये बिना रहनेवाला नहीं है यह निश्चय करके, जिस शुभाशुभ परिणामधाराकी परिणतिसे वह साता-असाताका सम्बन्ध करता है उस धाराके प्रति उदासीन होकर, देह आदिसे भिन्न और स्वरूपमर्यादामें रहे हुए उस आत्मामें जो चल स्वभावरूप परिणामधारा है उसका आत्यंतिक वियोग करनेका सन्मार्ग ग्रहण करके, परम शुद्ध चैतन्यस्वभावरूप प्रकाशमय वह आत्मा कर्मयोगसे सकलंक परिणाम प्रदर्शित करता है उससे उपरत होकर, जिस प्रकार उपशमित हुआ जाये उस उपयोगमें और उस स्वरूपमें स्थिर हुआ जाये, अचल हुआ जाये, वही लक्ष्य, वही भावना, वही चिंतन और वही सहज परिणामरूप स्वभाव करना योग्य है। महात्माओंकी वारंवार यही शिक्षा है।

-श्रीमद् राजचंद्र / पत्रांक : ९१३

मैं ज्ञानमात्र हूँ

निरंतर उदासीनताके क्रमका सेवन करना; सत्पुरुषकी भक्तिमें लीन होना; सत्पुरुषोंके चरित्रोंका स्मरण करना; सत्पुरुषोंके लक्षणका चिंतन करना; सत्पुरुषोंकी मुखाकृतिका हृदयसे अवलोकन करना; उनके मन, वचन और कायाकी प्रत्येक चेष्टाके अद्भुत रहस्योंका वारंवार निदिध्यासन करना; और उनका मान्य किया हुआ सभी मान्य करना।

यह ज्ञानीयों द्वारा हृदयमें स्थापित, निर्वाणके लिये मान्य रखने योग्य, श्रद्धा करने योग्य, वारंवार चिंतन करने योग्य, प्रति क्षण और प्रति समय उसमें लीन होने योग्य परम रहस्य है। और यही सर्व शास्त्रोंका, सर्व संतोंके हृदयका और ईश्वरके घरका मर्म पानेका महामार्ग है। और इन सबका कारण किसी विद्यमान सत्पुरुषकी प्राप्ति और उसके प्रति अविचल श्रद्धा है।

(पत्रांक-१७२)

(कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी)

ॐ

धन्य आराधना

परम कृपालुदेव श्रीमद् प्रभुकी अभ्यंतर-दशा

वर्ष - २४वाँ

परम उपकारी `कृपालुदेव' को स्वानुभूति/सम्यक्‌दर्शनकी प्राप्ति संवत - १९४७के प्रारम्भमें हुई थी, यह इनके श्री सोभाग्यभाईके प्रति लिखे (पत्रांक - **१६५**) **कार्तिक सुदी -५, १९४७के पत्रसे स्पष्टरूपसे समझमें आता है।** (**क्योंकि पत्रांक - १६१, १६२में दर्शनपरिषहका वेदन किया है। पत्रांक १६३-१६४में अपनी ज्ञानदशा सम्बन्धित उल्लेख नहीं है।**)

१६५

बंबई, कार्तिक सुदी ५, सोम, १९४७

``इस ज्ञानकी दिन-प्रतिदिन इस आत्माको भी विशेषता होती जाती है।''

कृपालुदेवका यह वचनामृत - आत्मज्ञानकी प्राप्तिके पश्चात्, उस दशाकी प्रतिदिन विशेषता अर्थात् निर्मलता एवं स्वरूपको विशद्‌रूपसे ग्रहण करनेके सामर्थ्यकी विशेषता होती जा रही है ऐसा सूचित करता है। तदुपरांत स्वयंके परिणामकी गति और जाति परसे विशेष अंदाज आता है जो निम्न वचनामृतसे समझमें आता है।

``मैं मानता हूँ कि केवलज्ञान तकका परिश्रम व्यर्थ तो नहीं जायेगा।''

शुद्धोपयोग द्वारा प्रगट होनेवाले स्वरूपज्ञानमें मोक्ष-दशाकी प्रतीति उत्पन्न होती है, ऐसा जिनागममें विधान है। तद्‌अनुसार उक्त वचनामृतमें कृपालुदेवको केवलज्ञानकी प्राप्ति वर्तमान चल रहे पुरुषार्थके प्रकारसे अवश्य होगी ऐसी (भावी पूर्ण दशाकी) प्रतीति होते ही जिस भावी पर्यायका विकल्प वाणीगोचर जैसे ही हुआ कि द्रव्य-दृष्टि द्वारा उसका निषेध भी हुआ जो निम्न वचनामृतसे समझमें आता है।

``हमें मोक्षकी कोई जरूरत नहीं है।''

मोक्षदशासे भी अनन्त गुण विशिष्ट ऐसा निजपरमात्मपद दृष्टिमें आने पर, अर्थात् स्वयं ही पूर्ण परमात्मस्वरूप दृष्टिगोचर और अनुभवगोचर होने पर, अनादि बंध-मुक्तिसे रहित ऐसे परिपूर्ण ध्रुव स्वरूपमें (अपनेमें) मोक्ष - उत्पन्न होनेका अवकाश भी नहीं है, ऐसी दृष्टिके ज़ोरमें भावि मोक्ष-पर्यायकी उपेक्षा ज्ञानीपुरुषको सहज वर्तती है, ऐसा अंतरध्वनि उक्त वचनामृतमें व्यक्त होता है।

``निःशंकताकी, निर्भयताकी, निराकुलताकी और निःस्पृहताकी जरूरत थी, वह अधिकांशमें प्राप्त हुई मालूम होती है, और पूर्णांशमें प्राप्त करानेकी गुप्त रहे हुए करुणासागरकी कृपा होगी, ऐसी आशा रहती है।''

अज्ञानदशामें शंका, भय, असमाधान (उलझन) और दीनता सहज होती है, वे सभी परिणाम दुःखदायक हैं, ऐसे परिणामोंकी निवृत्ति प्रत्यक्ष, शाश्वत, सर्वांग समाधानस्वरूप, और निरालंब-निरपेक्ष स्वरूपका ज्ञान और उसमें लीनता होने पर होती है। स्वयंको निःशंकताकी, निर्भयताकी, निराकुलताकी और निःस्पृहताकी अनुभूति होनेपर,

चारित्रके अल्प दोष शेष रहकर महद् अंशमें उक्त दोषोंका अभाव हुआ है, और परिपूर्ण निर्दोषदशारूप, गुप्त रहा हुआ निज परम स्वरूप कि जिसका स्वभाव पूर्णरूपसे परिणमन करनेका है, उसे करुणासागरकी उपमा देकर, वह निज परमात्मा अवश्य कृपा करेंगे अर्थात् अवश्य परिणमन होगा ही, ऐसी आशा रहती है।

``फिर भी इससे भी अधिक अलौकिक दशाकी इच्छा रहती है, तो विशेष क्या कहना ?''

इस वचनामृतमें सर्वदशामें समभाव रहता है अर्थात् सर्व दशाओंके प्रति विधि-निषेध समाप्त हो जाय और साम्यभावरूप वीतरागता रहे ऐसी इच्छा रहती है। वर्तमानमें अपूर्णदशा है और भावि पूर्ण दशाका विकल्प होने पर भी दोनों दशाके विकल्पको शांत करके, जिस-जिस कालमें सहज परिणमन हो, उस-उस कालमें सिर्फ ज्ञातादृष्टाभावमें रहते हुए अलौकिकदशारूप आत्मभावमें रहनेकी स्वयंकी भावना है। पर्यायके सम्बन्धमें इससे अधिक कुछ नहीं कह सकते।

``जगतको, जगतकी लीलाको बैठे बैठे मुफ्तमें देख रहे हैं।''

मोक्षमार्ग प्रगट होनेके साथ आभ्यंतरमें आत्मभावकी परिणति सुयोग्य प्रकारसे चल रही है अर्थात् ज्ञातादृष्टा हुए हैं, यह दर्शानेके लिए, जगतको, जगतकी विचित्रताओंको वीतरागभावसे देख रहे हैं। कहीं पर भी हर्ष-शोकका कारण सम्यक्ज्ञानको नहीं है, ऐसा निर्देश उक्त वचनामृतमें अच्छी तरह व्यक्त हुआ है। ज्ञानदशाकी शुरुआतके पहले ही पत्रमें उक्त थोड़े वचनोंमें - स्वयंकी द्रव्यदृष्टि, सम्यक्ज्ञानरूप **दशा,** वीतरागी समभाव, पूर्ण सिद्धपदकी अभिलाषा इत्यादि सम्यक्दर्शनके अंगभूत भावोंकी अभिव्यक्ति अति भाववाही और

असाधारण शैलीमें आलेखित मालूम पड़ती है।

पत्रकी भाषा - शैली इतनी असाधारण है कि भाषाके विषयमें पारंगत विद्वान भी आश्चर्यका अनुभव करे - ऐसी शैली है; जिसकी प्रशंसाके लिए खोज़ने पर भी शब्द नहीं मिलते हैं।

१७०

बम्बई, कार्तिक सुदी १४, १९४७

``आत्माने ज्ञान पा लिया यह तो निःसंशय है; ग्रन्थिभेद हुआ यह तीनों कालमें सत्य बात है। सब ज्ञानियोंने भी इस बातका स्वीकार किया है। अब हमें अन्तिम निर्विकल्प समाधि प्राप्त करना बाकी है, जो सुलभ है। और उसे प्राप्त करनेका हेतु भी यही है कि किसी भी प्रकारसे अमृतसागरका अवलोकन करते हुए अल्प भी मायाका आवरण बाध न करे, अवलोकन सुखका अल्प भी विस्मरण न हो, `तू ही, तू ही' के सिवाय दूसरी रटन न रहे; मायिक भयका, मोहका, संकल्पका या विकल्पका एक भी अंश न रहे।''

इस पत्रमें स्वयंको आत्मज्ञान हुआ है इसका उल्लेख तथा ग्रंथिभेद यानी कि मिथ्यात्वकी ग्रंथिका छेद हो गया है उसका उल्लेख निःसंशयरूपसे किया है। निर्मल सम्यक्ज्ञानके प्रकाशमें निःशंकरूपसे स्वयंका श्रद्धा-ज्ञान अनुभवगोचर हो रहा है। साथ ही साथ खुदकी उक्त दशाके सर्वज्ञानी साक्षी हैं ऐसा स्वयंको अंतरसे भासित होता है अथवा पूर्वमें हुए सर्व ज्ञानियोंकी दशा और वचन खुदकी सम्यक्दशाके साक्षीभूत हैं ऐसा भासित होता है।

अब आखरी पूर्णदशाकी भावना रही है, वह भी इसलिए कि किसी भी प्रकारसे अमृतसागररूप परमात्माका अनुभवन करनेमें अल्प आवरण भी बाधा न करे अथवा उसमें सूक्ष्म अंतराय भी नहीं हो।

निरंतर परिणतिमें एक आत्मस्वरूपका ही भजन रहे और किसी भी अंशमें मोह, संकल्प, भय या माया उत्पन्न नहीं हो।

``ऐसी दशा हुए बिना प्रगट मार्ग प्रकाशित करनेकी परमात्माकी आज्ञा नहीं है ऐसा मुझे लगता है। इसलिये दृढ़ निश्चय किया है कि इस दशाको प्राप्त करके फिर प्रगट मार्ग कहना-परमार्थ कहना -तब तक नहीं। ..... निर्विकल्पता तो है ही; परन्तु निवृत्ति नहीं है, निवृत्ति हो तो दूसरोंके परमार्थके लिये क्या करना इसका विचार किया जा सकता है। उसके बाद त्याग चाहिये, और उसके बाद त्याग कराना चाहिये।''

``महापुरुषोंने कैसी दशा प्राप्त करके मार्ग प्रगट किया है, क्या-क्या करके मार्ग प्रगट किया है, इस बातका आत्माको भलीभाँति स्मरण रहता है;'

जिन महान पुरुषोंने श्री जिनेश्वरदेवका मार्ग प्रकाशित किया है, उनकी दशा और कार्यपद्धतिका कृपालुदेवको भलीभाँति खयाल है कि उपरोक्त दशा हुए बिना समाजके बीच प्रगटरूपसे मार्ग प्रकाशित करनेकी श्री जिनेश्वरदेवकी आज्ञा नहीं है। तद्अनुसार स्वयंने भी ऐसा दृढ़ निश्चय किया है। जिसमें निर्विकल्पताकी प्राप्ति तो हुई है और उसमें निर्विकल्प स्वरूप अनुभवज्ञानपूर्वक मालूम पड़ा है, अतः इस स्वरूपको और इस स्वरूप प्राप्तिके मार्गको स्वयं प्रगट कर सकते हैं, फिर भी स्वयंको बाह्य निवृत्ति नहीं है, यदि निवृत्ति होती तो शासनके कार्य और दूसरोंका कल्याण कैसे हो तत्सम्बन्धित क्या करना ? यह सोचा जा सके; इसके अलावा निर्ग्रंथका मार्ग प्रकाशित करनेके लिए और प्रभावनाके लिए प्रकाशक पुरुषको भी त्याग होना आवश्यक है अर्थात् स्वरूप स्थिरता वश सहजरूपसे बाह्य त्यागकी दशा रहनी चाहिए, कि जिससे वीतरागताके सद्भावमें

सांसारिक जीवनके विकल्प ही उत्पन्न न हो, ऐसी सहज दशाकी प्राप्ति होनेके पश्चात् त्यागका उपदेश करना चाहिए। इस क्रमका सेवन किये बिना उपदेशक हो जाना, यह महान पुरुषों द्वारा सेवन किये गये क्रमका भंग होनेके बराबर है अर्थात् उनकी आज्ञा और प्रवर्तनाके साथ विसंगतता उत्पन्न होना - यह अविवेक है ऐसा स्वयंको लगा है।

``इसलिये अभी तो केवल गुप्त हो जाना ही योग्य है। एक अक्षर भी इस विषयमें कहनेकी इच्छा नहीं होती। ......सर्व प्रकारसे गुप्तता रखी है। अज्ञानी होकर वास करनेकी इच्छा बना रखी है। वह ऐसी कि अपूर्व कालमें ज्ञान प्रगट करते हुए बाध न आये।''

स्वयंको आत्मज्ञान होने पर भी पूर्वकर्मके उदयको अनिवार्य देखकर वर्तमान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके बीच खुदको गुप्त होकर रहना उचित माना है। जगतके जीवोंका परिचय अति संक्षेप कर दिया है और जो-जो जीवके साथ पूर्वकर्मके कारणसे प्रवृत्ति होती है वहाँ भी अज्ञानी होकर अर्थात् अज्ञानी जीव प्रवृत्ति करे उस प्रकारसे व्यवहार-कार्योंमें प्रवर्तन करनेका दृढ़ निश्चय किया है। जिससे कि महापुरुषका अवर्णवाद करनेका किसीको कारण न बने, तथा भविष्यकालमें मार्ग प्रकाशित करनेमें बाधा भी नहीं हो। इस वचनामृतमें कृपालुदेवकी लोकोत्तर विचक्षणताके दर्शन होते हैं। यदि इस परिस्थितिमें ऐसी विचक्षणतासे प्रवर्तन नहीं होवे तो स्व-पर अहितकारी परिणाम आनेका संभव है, अतः इस विषयमें उन्होंने जो प्रवर्तन किया, यह उनका महा विवेक है।

``तन्मय आत्मयोगमें प्रवेश है। वहीं उल्लास है, वहीं याचना है, और योग (मन, वचन और काया) बाहर पूर्वकर्म भोगता है।

वेदोदयका नाश होने तक गृहवासमें रहना योग्य लगता है। परमेश्वर जान-बूझकर वेदोदय रखता है, क्योंकि पंचम कालमें परमार्थकी वर्षाऋतु होने देनेकी उसकी थोड़ी ही इच्छा लगती है।''

स्वयंकी आभ्यंतरदशाका यहाँ पर उल्लेख किया है कि आत्मामें तन्मय योगसे प्रवृत्ति हो रही है और उस वज़हसे मन, वचन, कायाके पुद्गलोंसे आत्मा तद्न भिन्न पड़ गया है, वह यहाँ तक कि अज्ञानभावसे बंधन किये गये पूर्वकर्मका भोगना आत्मभावसे बिलकुल नहीं होता, परन्तु उदयको भोगनेके कालमें स्पष्टरूपसे और प्रत्यक्षरूपसे ज्ञातादृष्टाभावसे रहकर उदयसे भिन्नभावमें रहके हैं। अंतर परिणति अत्यंत बलवान होने पर भी चारित्रमोहके उदय - जनित वेदोदय चालू रहे तब तक गृहस्थादशामें रहना उचित लगता है। कुदरतको यह बात मंजूर होगी ऐसा लगता है; क्योंकि स्वयं, उदयकालमें आत्मभावमें रहते हुए चारित्रमोहके मूलका छेद कर सके, ऐसे पुरुषार्थके लिए समर्थ हैं। यद्यपि स्वयंके गृहवासके कारण बाहरमें परमार्थ उपदेशकी वर्षा होनेकी संभावना नहीं है, जो कि पंचमकालमें कुदरतके अनुरूप है, फिर भी स्वयंके मार्गविकासमें उसका प्रतिबंध नहीं है। सिर्फ दूसरे जीवोंको धर्मलाभ होनेमें अवकाश का रहता है, लेकिन पंचमकालमें ऐसा बनना अस्वाभाविक नहीं है। लाक्षणिक शैलीसे यह बात लिखी गई है।

``सूत्र लेकर उपदेश करनेकी आगे जरूरत नहीं पड़ेगी। सूत्र और उसके पहलू सब कुछ ज्ञात हो गये हैं।''

स्वरूपके अभेदज्ञानमें सर्व शास्त्रज्ञान समाविष्ट है, सर्व भेद उसमें गर्भित हैं। अतः स्वयंके ज्ञान-सामर्थ्यको लक्षमें लेकर कहते हैं कि, भविष्यमें सूत्र या शास्त्र सामने रखकर उपदेश करनेकी ज़रूरत नहीं रहेगी, क्योंकि ज्ञानदशाके प्रारम्भमें ही सूत्र और उसके सर्व

पहलू स्वयंके ज्ञानमें मालूम पड़ चुके हैं। ऐसा सातिशय ज्ञान उन्हें वर्तता है, इसका उल्लेख उक्त वचनामृतमें देखने मिलता है।

१७३

बंबई, कार्तिक वदी ३, शनि, १९४७

``प्रवृत्ति है तो उसके लिये कुछ असमता नहीं है; परन्तु निवृत्ति होती तो अन्य आत्माओंको मार्गप्राप्तिका कारण होता ''

स्वयंको पूर्व उपार्जित कर्मबंधनके कारण प्रवृत्ति है अर्थात् प्रवृत्तिकी इच्छापूर्वक प्रवृत्ति नहीं है। फिर भी यह प्रवृत्ति नये कर्मबंधनका कारण नहीं होती है। ऐसी दशामें प्रवर्तना होनेसे, और उपार्जित कर्म समभावपूर्वक वेदन करने योग्य होनेसे, प्रवृत्ति सम्बन्धी विषम परिणाम या असमता नहीं होती है। अतः खुदको वह नुक़सानका कारण नहीं है; परन्तु यदि बाह्य निवृत्ति होती तो दूसरे मुमुक्षु आत्माओंको सत्संगका योग विशेषरूपसे प्राप्त हो सकता था और जिससे उन लोगोंको सन्मार्ग प्राप्त होनेका निमित्त कारण मिलता या अपूर्व हितके दातार बनते।

१७६

बंबई, कार्तिक वदी ९, शुक्र, १९४७

``जो छूटनेके लिये ही जीता है वह बंधनमें नहीं आता, यह वाक्य निःशंक अनुभवका है। .....कि जिसे छूटनेकी दृढ़ इच्छा होती है उसे बन्धनका विकल्प मिट जाता है; और यह इस बातका सत्साक्षी है।''

स्वयंके अनुभवसे परम कृपालुदेव यहाँ कहते हैं कि, जिस जीवको कर्मबंधनसे छूटनेके अलावा अर्थात् मोक्षके अलावा दूसरा ध्येय नहीं

है वह जीव बंधनमें नहीं आता; क्योंकि जिसे अंतरसे छूटनेकी भावनापूर्वक निर्धार होता है, उस जीवको अपनी भावना-विरुद्धके परिणाम नहीं होते अथवा कदापि होते हैं तो तीव्र रसपूर्वक नहीं होते, बल्कि मंदरसपूर्वक होनेवाले परिणामका भी निषेध वर्तता है। ऐसी योग्यतामें वर्तते जीवको बंधनकी यानी भवकी शंका मिटती है, जिसकी साक्षी स्वयं ही हैं। उपरोक्त दशासे गुज़रकर, स्वयं आगे बढ़कर मोक्षमार्गमें बढ़ती दशामें परिणमन कर रहे हैं। इस विषयका सैद्धांतिक रहस्य ऐसा है कि मुमुक्षुजीवनकी वास्तविक शुरूआत पूर्णताके लक्ष्यसे होती है; और जिसका पूर्ण शुद्ध होनेका ध्येय निश्चित हुआ हो, उसीको ग्रंथिभेदके लिए जिस मात्रामें वीर्यगति-जागृत्ति आदि चाहिए उस मात्रामें शुरूआत होकर वृद्धिगत होते हैं। ऐसे जीवको मोक्षकी भनक अंदरसे आती है।

``एक ओर तो परमार्थमार्गको शीघ्रतासे प्रगट करनेकी इच्छा है, और एक ओर अलख `लय' में समा जानेकी इच्छा रहती है। अलख `लय' में आत्मासे समावेश हुआ है, योगसे करना यह एक रटन है। परमार्थके मार्गको, बहुतसे मुमुक्षु प्राप्त करें, अलख समाधि प्राप्त करें तो अच्छा, और इसके लिये कितना ही मनन है।''

परम कृपालुदेवके परिणमनमें निश्चय-व्यवहार संधियुक्त सहज स्थिति वर्तती है; जिसमें एक ओर जिनेश्वरदेवका मार्ग बहुतसे मुमुक्षुओंको प्राप्त हो इसके लिए शीघ्र प्रकाशित करनेकी इच्छा रहती है, तो दूसरी ओर अतीन्द्रिय अंतर्मुख भावमें समाये रहें ऐसा रहता है। यद्यपि इन्द्रियसे पार (अलख) ऐसे परिणमनमें आत्माका काफी मात्रामें भावसे समावेश हुआ है। द्रव्यसे वैसी ही स्थिति रह जाये ऐसा निरंतर एक लक्ष्य रहता है अर्थात् पूर्णदशाका लक्ष्य रहता

है। दूसरे मुमुक्षु भी इस स्वरूप समाधिको प्राप्त हो तो अच्छा, इसके लिए सहजरूपसे थोड़ा मनन चलता है। इस तरह अंतर और बाह्य प्रवृत्तिका व्यवहारसे सुमेल होने पर भी निश्चयसे प्रतिकूल है। परन्तु दोनोंमेंसे किसी भी प्रकारकी प्रवृत्तिमें कर्तृत्व नहीं होनेसे खुद उसका निर्णय कुदरत अधीन छोड़ देते हैं।

``अद्भुत दशा निरंतर रहा करती है। अवधूत हुए हैं, अवधूत करनेके लिये कई जीवोंके प्रति दृष्टि है। ....(इसके लिए) बहुत कुछ बतानेकी इच्छा होती है, परन्तु लिखने या बोलनेकी अधिक इच्छा नहीं रही।''

परम कृपालुदेवकी स्वरूपमें एकत्वकी विशेष तारतम्यता युक्त अद्भुत दशा निरंतर रहा करती है और इस परिणतिके वशात् स्वयं अवधूत हुए हैं। परम कृपालुदेवका मार्गमें प्रवेश बलवानरूपसे हुआ है, कि जिसके कारण शुरूआतके दिनोंमें ही आत्माकी मस्ती, अवधूत महात्मा जैसी अद्भुत हुई है। धन्य है ऐसी आराधनाको !

अपने जैसी आत्मदशा करनेके लिए बहुतसे जीवोंके प्रति उनकी करुणादृष्टि है और इसके लिए बहुत कुछ कहनेकी इच्छा होती है, फिर भी विकल्प मर्यादित हो जानेसे अथवा रागरस कम हो जानेसे लिखनेकी या बोलनेकी अधिक इच्छा सहजरूपसे नहीं रही।

१८७

बंबई, मगसिर वदी ३०, १९४७

``प्राप्त हुए सत्स्वरूपको अभेदभावसे अपूर्व समाधिमें स्मरण करता हूँ।''

पत्रके इस शीर्षकमें, अनुभवमें आये निजात्मस्वरूपका अभेद निर्विकल्प अपूर्व समाधिमें अनुभव करके, अनुभवरूप स्मरण किया

है।

``अन्तिम स्वरूपके समझनेमें, अनुभव करनेमें अल्प भी न्यूनता नहीं रही है। जैसा है वैसा सर्वथा समझमें आया है।... एक देश छोड़कर बाकी सब अनुभवमें आया है। एक देश भी समझमें आनेसे नहीं रहा; परन्तु योग (**मन, वचन, काया**) **से असंग होनेके लिये वनवासकी आवश्यकता है; और ऐसा होनेपर वह देश भी अनुभवमें आ जायेगा, अर्थात् उसीमें रहा जायेगा; परिपूर्ण लोकालोकज्ञान उत्पन्न होगा, और उसे उत्पन्न करनेकी** (**वैसे**) **आकांक्षा नहीं रही, फिर भी उत्पन्न कैसे होगा ? यह भी आश्चर्यकारक है**! **परिपूर्ण स्वरूपज्ञान तो उत्पन्न हुआ ही है; और इस समाधिमेंसे निकलकर लोकालोकदर्शनके प्रति जाना कैसे होगा ? यह भी एक मुझे नहीं परन्तु पत्र लिखनेवालेको विकल्प होता है**!''

अंतर्मुख अतीन्द्रियज्ञानमें, केवलज्ञानमें जैसा पूर्ण आत्मस्वरूप ज्ञेय होता है वैसा ही, अनुभवमें आया है और अनुभवपूर्वक समझमें आया है। इसमें अल्प भी विपरीतता नहीं रही, वस्तुस्वरूप जैसा है वैसा समझमें आया है। सर्व प्रत्यक्षका एक देश छोड़कर अनुभव प्रत्यक्ष सर्व अनुभवमें आया है। सर्व प्रत्यक्ष होनेके लिए सर्व संबंधसे असंग होकर मुनिदशामें वनवासमें रहनेकी आवश्यकता है, यह स्वयंके ज्ञानमें यथार्थरूपसे है। और ऐसा होनेपर सर्व प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट होते ही ऐसा उस ज्ञानमें लीन रहना हो पायेगा। साथ ही साथ अचिंत्य लोकालोकका ज्ञान भी उत्पन्न होगा। यद्यपि ऐसी लोकालोकको जाननेकी आकांक्षा नहीं रही, तथापि वह अवश्य उत्पन्न होगा, ऐसी प्रतीति वर्तती है। निरवशेष अंतर्मुख समाधिमें रहने पर भी साथ ही साथ लोकालोकका दर्शन भी उत्पन्न होता है, यह एक अचिंत्य और आश्चर्यकारक घटना है, अतः उसका विकल्प मनको होता है, परन्तु स्वरूपज्ञानमें अंतिम स्वरूप समझमें आ गया होनेसे आत्माको उसका विकल्प नहीं है। स्वरूपानुभवी मैं तो मनके उक्त विकल्पसे भिन्न हूँ। ऐसे अलौकिक परिणमनको कृपालुदेवने अपनी मौलिक शैलीमें व्यक्त किया है।

``(**कुछ**) **मुक्ति भी नहीं चाहिये, और जिस पुरुषको जैनका केवलज्ञान भी नहीं चाहिये, उस पुरुषको अब परमेश्वर कौनसा पद देगा ?**''

आत्मभावमें, अत्यंत मस्तदशामें और द्रव्यदृष्टिके ज़ोरमें ये वचन लिखे गये हैं। मुक्ति और केवलज्ञानसे भी पार ऐसे आत्मस्वरूपका अनुभव होने पर इतनी तृप्ति रहती है कि जिसके कारण अब परमात्मासे भी माँगनेकी इच्छा शांत हो गई है। इस वचनामृतमें द्रव्यदृष्टिका रहस्य रख दिया है, यह रहस्य उत्तमजीवकी समझमें आता है, दूसरोंको समझना कठिन पड़ता है; अतः इस विषयमें लंबी बात लिखना उन्हें योग्य नहीं लगा। इतना ही नहीं विस्तारयुक्त लिखने पर विकल्प वृद्धिगत् हो और स्वरूपमस्तीमें विक्षेप पड़े, ऐसा होना असंभवित है, अतः आत्ममस्तीके कारण लिखनेकी बाह्यवृत्ति कम हो गई है।

२०१

बंबई, माघ वदी ३, गुरु, १९४७

``आजके प्रभातसे निरंजनदेवका कोई अद्भुत अनुग्रह प्रकाशित हुआ है; आज बहुत दिनोंसे इच्छित पराभक्ति किसी अनुपम रूपमें उदित हुई है।''

आज प्रभातसे निज परमात्मा स्वयं अद्भुततासे प्रगटरूपसे परिणमन कर रहा है और परिणतिमें परमात्माके प्रति कोई अनुपम

उल्लसित परिणाम सहज प्रगट होते रहते हैं। बहुत दिनोंसे जो इच्छा थी वैसा सहज परिणमन हुआ है। यद्यपि परमात्मा तो सदा निर्विकार और वीतराग है तथापि पराभक्तिरूप लीनताको जैसे मानो वश हुए हैं। उसका दर्शन सदा होता रहे इसकी सावचेती हेतु स्वयं असंगताको चाहते हैं अथवा श्री सौभाग्यभाई जैसे महाभाग्यका सत्संग चाहते हैं। यद्यपि सत्संगका फल असंगता है, फिर भी इस पत्रमें असंगताको श्री सौभाग्यभाईके सत्संग तुल्य प्रिय गिना है। धन्य है ! श्री सौभाग्यभाईकी पात्रताको कि जिनका संग कृपालुदेव जैसे महापुरुष चाहते हैं अर्थात् स्वयंकी आत्मवृत्ति जैसी असंगदशामें रहती है वैसी आत्मवृत्ति श्री सौभाग्यभाईके साथ सत्संग दौरान रहती है, अतः उनका संग चाहते हैं।

✧

२०४

बंबई, माघ वदी ७, मंगल, १९४७

``**अभी हमारी प्रसन्नता हमपर नहीं होती, क्योंकि यथेष्ट असंगदशासे रहा नहीं जाता; और मिथ्या प्रतिबंधमें वास है। परमार्थके लिये परिपूर्ण इच्छा है, परन्तु ईश्वरेच्छाकी अभी तक उसमें सम्मति नहीं है।**''

प्रारंभसे परम कृपालुदेवको अंतरंगमें अद्‌भुत आत्मदशारूप परिणति होने पर भी उन्हें संतोष नहीं है। पूर्णताके कामीको ऐसा ही होता है, वरना वर्तमान पर्यायलक्ष्यसे अहम् हुए बिना नहीं रहता। अतः इस पत्रमें लिखते हैं कि निज निरंजन देवकी जैसी चाहिये वैसी प्रसन्नता नहीं हो रही है और इसलिए जैसी असंगदशासे प्रवर्तन चाहते हैं, वैसी स्थिति उत्पन्न नहीं हुई है। साथ ही बाह्यमें जो लौकिक संबंध है वह परमार्थ अपेक्षा मिथ्या है और व्यवहारदशासे

उसमें रहना पड़े, यह प्रतिबंधमें वास है। परिपूर्णदशाकी भावना रहती है परन्तु सहज वैसी स्थिति उत्पन्न नहीं हुई है, उसका यहाँ पर उल्लेख है।

✧

२०६

बंबई, माघ वदी १३, रवि, १९४७

``**पारमार्थिक विषयमें अभी मौन रहनेका कारण परमात्माकी इच्छा है। जब तक असंग नहीं होंगे और उसके बाद उसकी इच्छा नहीं होगी तब तक प्रगटरूपसे मार्ग नहीं कहेंगे।**''

दूसरे जीवोंको परमार्थकी (आत्मकल्याणकी) प्राप्ति हो उस विषयमें बाह्य प्रवृत्ति संबंधित हाल मौन रहनेका निर्णय किया है, क्योंकि जब तक असंगतामें रह सके ऐसी सहजदशा प्रगट न हो तब तक, और ऐसी दशा प्रगट होनेके बाद भी बाहरमें जब तक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव परमार्थको प्रकाशित करनेके लिए अनुकूल न दिखे तब तक प्रगटरूपसे मार्ग नहीं कहना चाहिए, ऐसा सर्व मार्ग-प्रकाशक महान पुरुषोंका, कार्य-प्रणालिका-विषयक नियम है, जिसका उल्लंघन खुद नहीं करना चाहते।

✧

२१०

बंबई, माघ वदी, ३०, १९४७

``**हमपर आपकी चाहे जैसी भक्ति हो, परन्तु सब जीवोंके और विशेषतः धर्मजीवके तो हम त्रिकालके लिये दास ही हैं**''

इस वचनामृतमें कृपालुदेवकी अलौकिक मार्गभक्ति प्रदर्शित होती है। स्वयं - सम्यक्‌प्रकारसे आत्मगुण प्रगट होनेसे - महान् होने पर भी वीतराग धर्मके प्रति उन्हें अलौकिक भक्ति है। इस भक्तिवशात्

धर्मप्राप्तिकी भावनासे जो जीव सत्पुरुषकी भक्ति करता है उसके प्रति सरलता और नम्रतापूर्वक त्रिकाल दासत्व रहे, ऐसी मार्गभक्तिके सिद्धांतको यहाँपर प्रकाशित किया है। मोक्षमार्गी जीवको ऐसे ही भाव होते हैं।

✽

२१३

बंबई, फागुन सुदी ४, शनि, १९४७

``**हम तो कुछ वैसा ज्ञान नहीं रखते कि जिससे त्रिकाल सर्वथा मालूम हो, और हमें ऐसे ज्ञानका कुछ विशेष ध्यान भी नहीं है। हमें तो वास्तविक जो स्वरूप उसकी भक्ति और असंगता ही प्रिय है।**''

कृपालुदेवके ज्ञानसामर्थ्यकी अतिशयताको देखकर कोई-कोई मुमुक्षुजीवको त्रिकालज्ञानी होनेके खयालसे अत्यंत महिमा हो आती थी, जिसके उपलक्षमें उक्त वचनामृत प्रकाशित हुए हैं। ज्ञानीपुरुषकी इच्छा ऐसी होती हैं कि अनेक प्रकारसे ज्ञानलब्धियाँ होने पर भी, इसकी आकांक्षा नहीं होनेसे अमुक पारमार्थिक बातको छोड़कर ज्ञानी दूसरी लब्धियोंकी बात प्रसिद्ध नहीं करते, ऐसी अंतर इच्छाके कारण जो कुछ उदयमें आ पड़े, उसमें सहज प्रवृत्तिके सिवा उन्हें कुछ भी कर्तव्यरूप नहीं लगता, अथवा उदयके अलावा दूसरे कार्योंमें सहज अप्रयत्नदशा रहती है और स्वरूपभक्तिसे प्राप्त असंगताके अलावा उन्हें कुछ प्रिय नहीं है। ज्ञानका उघाड़ बढ़ानेकी भावना नहीं है।

✽

२१४

बंबई, फागुन सुदी ५, रवि, १९४७

``**उदयकालके अनुसार वर्तन करते हैं। क्वचित् मनोयोगके कारण इच्छा उत्पन्न हो तो बात अलग है परन्तु हमें तो ऐसा लगता है कि इस जगतके प्रति हमारा परम उदासीन भाव रहता है; वह बिलकुल सोनेका हो तो भी हमारे लिये तृणवत् है; और परमात्माकी विभूतिरूप हमारा भक्तिधाम है।**''

इस वचनामृतमें कृपालुदेवका समस्त जगतके प्रति परम वैराग्यभाव प्रदर्शित हुआ है। जबकि स्वयं जगत व्यवहारमें उदय अनुसार वर्तन करते हैं फिर भी आत्मा उससे भिन्न हो गया है। स्वयं से भिन्न ऐसा जो मन उसका संयोग होनेसे क्वचित् अल्प इच्छा होती है, वह गिनने योग्य नहीं है, क्योंकि वह इच्छा बहुत अल्प है; और वैराग्य अतिशय वर्त रहा है। जगतके समस्त वैभवका मूल्य एक तृण जितना लगता है; इसलिए परम उदासीनतासे सहज ही वर्तना हो रही है। उदासीनता माने द्वेषभाव नहीं परन्तु जड़-चैतन्यकी स्वाभाविक अवस्थाएँ, मात्र सम्यक्ज्ञानका ज्ञेय है ऐसा दर्शानेके लिए भक्तिधामकी उपमा दी है।

✽

२१७

बंबई, माघ सुदी, १९४७

``**सरल मार्ग मिलने पर भी उपाधिके कारण तन्मय भक्ति नहीं रहती, और एकतार स्नेह उमड़ता नहीं है। इसलिए खेद रहा करता है और वनवासकी वारंवार इच्छा हुआ करती है। यद्यपि वैराग्य तो ऐसा रहता है कि प्रायः आत्माको घर और वनमें कोई भेद नहीं लगता; परन्तु उपाधिके प्रसंगके कारण उसमें उपयोग रखनेकी**

वारंवार जरूरत रहा करती है, कि जिससे परम स्नेह पर उस समय आवरण लाना पड़ता है, ... पूर्ण लय आये बिना देहत्याग नहीं किया जा सकेगा ऐसा लगता है, और वारंवार यही रटन रहनेसे `वनमें जायें' `वनमें जायें' ऐसा मनमें हो आता है। आपका निरंतर सत्संग हो तो हमें घर भी वनवास ही है।''

इस वचनामृतमें भी स्वरूपमें तन्मय रहनेकी वृत्तिवश कृपालुदेवके परम वैराग्यभावका दर्शन होता है; यद्यपि परमस्वरूपमें जितना चाहिए उतना एकतार परिणमन नहीं रहता होनेसे खेद भी होता है; तथापि अत्यंत वैराग्यके कारण घर और वन दोनोंमें तफावत नहीं दिखता है। व्यवसायकी उपाधिके कारण उसमें उपयोग देना पड़ता है; तब स्वरूपभक्ति (आराधना) पर आवरण लाना पड़ता है, ऐसा होता है, जो नहीं पुसाता है; ऐसी स्थितिमें आयुष्य पूरा होनेका निषेध वर्तता है और स्वरूपमें पूर्ण लय प्रगट करनेके लिए वनमें जानेकी रटन चल रही है। इस परिस्थितिमें वनवासकी ज़गह श्री सौभाग्यभाईका सत्संग स्वयं चाहते हैं, दूसरा कुछ नहीं चाहते।

``असंगता बहुत ही याद आती है; और कितनी ही बार तो ऐसा हो जाता है कि उस असंगताके बिना परम दुःख होता है। यम अंतकालमें प्राणीको दुःखदायक नहीं लगता होगा, परन्तु हमें संग दुःखदायक लगता है। यों अंतर्वृत्तियाँ बहुतसी हैं कि जो एक ही प्रवाहकी हैं। लिखी नहीं जाती; रहा नहीं जाता; ....कोई सुगम उपाय नहीं मिलता। उदयकर्म भोगते हुए दीनता अनुकूल नहीं है। भविष्यके एक क्षणका भी प्रायः विचार भी नहीं रहता।''

लौकिकजनोंका संग करने योग्य नहीं है फिर भी इनके बीच रहना पड़ता है, इसलिए वारंवार असंगताका स्मरण आ जाता है और इस असंगताकी चाहत इतनी हद तक रहती है कि इसके

बिना परम दुःख होता है। जगतके प्राणीको जितना अंतकालमें प्राणत्यागका दुःख होगा, इससे भी लौकिकजनोंका संग खुदको अधिक दुःखदायक लगता है। इन वचनों पर से कृपालुदेवकी अंतर्मुख रहनेकी वृत्तिमें कितना वेग है, इसका अंदाज आता है। तथापि इच्छित सत्संगके अभावमें और असत्संगके सद्भावमें केवल अंतर्मुख रहनेका सुगम उपाय कोई नहीं दिखता, फिर भी उदयकर्म भोगते हुए दीनतामें आना मार्गको अनुकूल नहीं है बल्कि प्रतिकूल है; अतः वैसा कर्तव्य नहीं है, स्वयं उदयकर्ममें प्रवृत्ति किसी भावि अनुकूलताकी आशा वश या भविष्यके संयोगोंकी चिंता वश नहीं करते। सामान्यतया संसारीजीवका भविष्यकी चिंतासे मुक्त होना नहीं बनता और संसारीजीवोंके परिणाम उदयमें फँसे ही रहते हैं। जब कि कृपालुदेवको तो प्रगट ज्ञानदशामें, अव्याबाध स्वरूपस्थिति - उसरूप परमात्माका आधार संप्राप्त है या तथारूप परमात्माका अनुग्रह वर्तता है कि जिससे भविष्यकी एक क्षणका चिंतारूप सामान्य विचार भी उत्पन्न नहीं होता है। ऐसे आराधकभाव जिन महात्माको हो, वे शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त हो, इसमें कौनसा आश्चर्य है ?

२२३

बंबई, फागुन वदी १४, बुध,१९४७

``इस विषयमें अधिक लिखने जैसी दशा नहीं रही है, और दूसरा कारण है उपाधियोग। उपाधियोगकी अपेक्षा वर्तमान दशाका कारण अधिक बलवान है। जो दशा बहुत निस्पृह है, और उसके कारण मन अन्य विषयमें प्रवेश नहीं करता; और उसमें भी परमार्थके विषयमें लिखते हुए केवल शून्यता जैसा हुआ करता है;....लेखनशक्ति शून्यताको प्राप्त हुई जैसी होनेका कारण एक यह भी है कि चित्तमें

उद्भूत बात बहुत नयोंसे युक्त होती है, और वह लेखनमें नहीं आ सकती, जिससे चित्त वैराग्यको प्राप्त हो जाता है।''

पत्रका उत्तर सविस्तर लिखनेकी इच्छा होने पर भी, अंतरंगमें बलवान निरिच्छक अध्यात्मपरिणतिके वश, यह इच्छा क्वचित् ही पूर्ण होती है। अंतर स्वरूपमय बलवान परिणति और बाहरमें उपाधियोग - इस प्रकार परस्पर विरुद्ध परिस्थितिके कारण परमार्थ सम्बन्धी पत्र व्यवहार करनेमें उपयोग चलता नहीं है। बलवान निर्विकल्प परिणति उपयोगकी प्रवृत्तिको इतनी हद तक अटकाती है कि परमार्थके विषयमें लिखते हुए भी शून्यभाव हो जाता है। यद्यपि भाव शून्यता आनेका एक कारण ऐसा भी है कि ज्ञानमें अनेक नयोंकी संधियुक्त कोई बात उद्भूत होती है जो स्पष्टरूपसे लिखनेमें, उपयोग लिखनेके विस्तारमें लंबाना पड़े, ऐसा होना - अध्यात्मदशाके कारण - संभवित नहीं होनेसे चित्त वैराग्यको प्राप्त होता है, अर्थात् लिखनेके परिणामका रस टूटकर नीरसताको प्राप्त हो जाता है। कृपालुदेवकी आत्मरसकी उग्र परिणतिके यहाँ दर्शन होता हैं कि जो आत्माकार दशाके कारण उपयोग पारमार्थिक लेखनीके विषयमें भी प्रवेश नहीं कर पाता।

२२८

बंबई, फागुन, १९४७

``**सदुपदेशात्मक सहज वचन लिखने हों इसमें भी लिखते लिखते वृत्ति संकुचितताको प्राप्त हो जाती है, क्योंकि उन वचनोंके साथ समस्त परमार्थ मार्गकी सन्धि मिली होती है, उसको ग्रहण करना पाठकोंके लिए दुष्कर होता है और विस्तारसे लिखनेपर भी पाठकोंको अपने क्षयोपशमकी क्षमतासे अधिक ग्रहण करना कठिन होता है; और फिर लिखनेमें उपयोगको कुछ बहुर्मुख करना पड़ता है, वह**

भी नहीं हो सकता। यों अनेक कारणोंसे पत्रोंकी पहुँच भी कितनी ही बार लिखी नहीं जाती''

इस वचनामृतसे कृपालुदेवकी अंतरंगदशा विशेषरूपसे व्यक्त होती है। सत्उपदेशात्मक सहज वचन लिखनेमें भी बाह्याकार उपयोगकी प्रवृत्ति होती है वह सहजरूपसे लिखते - लिखते संक्षिप्त हो जाती है; बाह्य प्रवृत्तिमें उतना रस नहीं है कि जिससे वह प्रवृत्ति चले। अंतरमें स्वरूपाकार परिणतिसे विरुद्ध उपयोग अधिक समय नहीं चल सकता।

इतना ही नहीं लिखित वचनोंके साथ ज्ञानमें समस्त परमार्थमार्गकी सन्धियुक्त अनेक दूसरे पहलू भी उत्पन्न होते हैं, जो वचनमें अध्याहार रहनेसे, पढ़नेवालेको उन वचनोंका यथार्थरूपसे ग्रहण होना दुष्कर हो, इस वज़हसे भी लिखनेकी वृत्ति संकुचितताको प्राप्त होती है। यदि अनेक पहलूओंका विस्तार किया जाये, तो उसमें भी पढ़नेवालेकी योग्यता और क्षयोपशमसे उच्च कोटिका विषय हो तो भी समझना कठिन पड़े या तो समझमें ही नहीं आये।

ऐसे अनेक कारणोंसे पत्रोंका उत्तर एवम् कई दफा तो पत्रोंकी पहुँच भी नहीं लिख पाते हैं।

२३९

बंबई, चैत्र वदी ७, गुरु,१९४७

``**यद्यपि उपाधिसंयुक्त बहुतसा काल जाता है, किन्तु ईश्वरेच्छाके अनुसार प्रवृत्ति करना श्रेयस्कर है और योग्य है; इसलिये जैसे चल रहा है वैसे चाहे उपाधि हो तो ठीक, न हो तो भी ठीक, जो हो वह समान ही है।**''

वर्तमानमें व्यवसाय सम्बन्धित अनेक प्रकारके उपाधिसंयुक्त

कार्योंमें बहुत समय व्यतीत होता है वह आत्महितके कार्यके लिए अनुकूल नहीं होने पर भी सहज ही जिस प्रकारसे होता रहे उसके अनुसार, अर्थात् पूर्वकर्मके उदयको समभावसे वेदन करना उस प्रकारसे, वर्तन करना श्रेयस्कर है। जो कुछ भी नुकसान होता है वह तो स्वयंके अनात्मभावके कारणसे होता है; बाह्य प्रवृत्तिके कारणसे नहीं। परन्तु कृपालुदेवकी ज्ञानदशा और वीतरागतामें - उपाधिका सद्भाव या अभाव समान ही होनेसे - उदयमान पूर्वकर्मकी सम्यक् प्रकारसे निर्जरा होती है, इसलिए उदयकी चिंता नहीं होकरके समाधान रहता है। नमस्कार हो उनकी साधनाको !

⁂

२४४

बंबई, वैशाख सुदी ७, शुक्र, १९४७

``**कुछ निवृत्तिका समय मिला करता है; परब्रह्मविचार तो ज्योंका त्यों रहा ही करता है; कभी तो उसके लिये आनंदकिरणें बहुत स्फुरित हो उठती हैं; और कुछ की कुछ** (**अभेद**) **बात समझमें आती है; परन्तु किसीसे कही नहीं जा सकती; हमारी यह वेदना अथाह है।**''

बाह्यप्रवृत्तिको छोड़कर कुछ समय निवृत्तिके लिए कईबार मिलता है, परन्तु प्रवृत्ति और निवृत्ति, दोनों समयमें आनंदमूर्ति परब्रह्म - परमात्माका लक्ष्य तो सहजरूपसे रहा ही करता है और कभी तो आनंदमूर्ति आत्मामें उपयोग, व्याप्यव्यापकभावसे एकाग्र होने पर निर्विकल्पदशामें आनंदकी किरणें उभर आती हैं, ज्ञान स्वरूप / स्वभावकी गहराईमें चला जाता है और अचिंत्य स्वभावकी कोई न कोई गहरी बात अनुभवज्ञानमें स्पष्ट होती है; इस अगमअगोचर वस्तुका विषय इतना तो सूक्ष्म है कि उसे ग्रहण करनेवाला या समझनेवाला

कोई योग्य मुमुक्षु नहीं है, यह एक हमारी वेदनाका विषय है। यद्यपि ये वेदना कम हो इसके लिए एक पात्र - श्री सौभाग्यभाई कृपालुदेवकी नज़रमें हैं; परन्तु उनका वियोग रहता है। तथापि श्री सौभाग्यभाई आत्मस्वभावकी गहराई विषयक जिज्ञासावश कुछ पुछे तो अच्छा, ऐसी भावना व्यक्त की है। इसतरह परम सत् गुप्त रहनेके कारण अफसोस होता है, और इसकी अभिव्यक्ति योग्यपात्रकी जिज्ञासाके निमित्तसे ही संभवित है, अन्यथा नहीं। ऐसी कुदरती प्रक्रिया सम्बन्धित संकेत भी इस वचनामृतमें मालूम पड़ता है। यह ऐसा संकेत है कि, अनुभवीपुरुषोंके अनुभवकी गहराई सामने किसी आत्मउन्नत्तिकी श्रेणीमें आरुढ़ योग्य पात्रके निमित्तसे ही व्यक्त होती है और परम सत् का प्रकाश होता है; तब एक पात्र जीवके निमित्तसे बाहर आया परम सत्य और रहस्य भावी दूसरे अनेक जीवोंको भी आत्मश्रेयका निमित्त बनता है। यहाँपर परम कृपालुदेवके वचनगांभीर्यकी गहराईका दर्शन होता है।

⁂

२४७

बंबई, वैशाख वदी ८, रवि, १९४७

``**चित्तकी दशा चैतन्यमय रहा करती है; जिससे व्यवहारके सभी कार्य प्रायः अव्यवस्थासे करते हैं। हरीच्छाको सुखदायक मानते हैं। इसलिये जो उपाधियोग विद्यमान है, उसे भी समाधियोग मानते हैं। चित्तकी अव्यवस्थाके कारण मुहूर्त मात्रमें किये जा सकनेवाले कार्यका विचार करनेमें भी पखवारा बिता दिया जाता है और कभी उसे किये बिना ही जाने देना होता है। सभी प्रसंगोंमें ऐसा हो तो भी हानि नहीं मानी है; तथापि आपसे कुछ कुछ ज्ञानवार्ता की जाये तो विशेष आनंद रहता है; और उस प्रसंगमें चित्तको कुछ व्यवस्थित**

करनेकी इच्छा रहा करती है, फिर भी उस स्थितिमें भी अभी प्रवेश नहीं किया जा सकता। ऐसी चित्तकी दशा निरंकुश हो रही है, और उस निरंकुशताके प्राप्त होनेमें हरिका परम अनुग्रह कारण है ऐसा मानते हैं। इसी निरंकुशताकी पूर्णता किये बिना चित्त यथोचित्त समाधियुक्त नहीं होगा ऐसा लगता है।''

इस पत्रमें, सम्यक् मोक्षमार्गमें प्रवेश होनेके पश्चात् छः - सात मासके अल्प समयमें ही चित्तकी दशा चैतन्यमयरूप कितनी तारतम्यतापूर्वक चल रही है, उसका चितार प्रदर्शित हुआ है। उग्र चैतन्यमयताके कारण बाह्य कार्य अव्यवस्थित हो गये हैं, फिर भी संयोगोंका ममत्व या स्वामित्व नहीं होनेसे इसकी चिंता नहीं होती, परन्तु समाधान रहता है कि कुदरतके क्रममें जो होने योग्य होगा, वही होगा, इसीलिए उपाधियोगने भी समाधियोगका स्थान लिया है, अतः उपाधिका दुःख गौण है। स्वरूपमय परिणतिके कारण बाह्य कार्योंकी सावधानी छूट जानेसे सामान्य कार्य कि जो अल्प समयमें कर सकते हो, उन कार्योंमें भी बहुतसे दिन लग जाते हैं अथवा उदासीनता वृद्धिगत होनेसे अनेक कार्योंको तो छोड़ देना पड़ता है।

यद्यपि परम सखा श्री सौभाग्यभाईके साथ ज्ञानवार्तामें विशेष आनंद रहता है (उपाधि नहीं लगती), तथापि वर्तमानदशा विशेष आत्मामय होनेसे ज्ञानवार्ताकी इच्छा कार्यगत् नहीं हो, ऐसी चित्तकी दशा निरंकुश हो गई है। इस दशाविशेषको कृपालुदेव स्वयं निज परमात्माका अनुग्रह गिनते हैं और ऐसी पूर्ण निरंकुशता प्राप्त होने पर ही पूर्ण तृप्ति होगी ऐसा समझते हैं।

``हमारे चित्तकी अव्यवस्था ऐसी हो जानेके कारण किसी काममें जैसा चाहिये वैसा उपयोग नहीं रहता, स्मृति नहीं रहती, अथवा

खबर भी नहीं रहती, इसके लिये क्या करना ? क्या करना अर्थात् व्यवहारमें रहते हुए भी ऐसी सर्वोत्तम दशा दूसरे किसीको दुःखरूप नहीं होनी चाहिये, और हमारे आचार ऐसे हैं कि कभी वैसा हो जाता है। दूसरे किसीको भी आनंदरूप लगनेमें हरिको चिंता रहती है, इसीलिये वे रखेंगे। हमारा काम तो उस दशाकी पूर्णता करनेका है, ऐसा मानते हैं; तथा दूसरे किसीको संतापरूप होनेका तो स्वप्नमें भी विचार नहीं है। सभीके दास हैं, तो फिर दुःखरूप कौन मानेगा ?.... परमानंदरूप हरिको क्षण भर भी न भूलना, यह हमारी सर्व कृति, वृत्ति और लिखनेका हेतु है।''

परम कृपालुदेवके चित्तकी दशा विशेषरूपसे चैतन्यमय हो जानेसे बाह्य कार्यमें सहजरूपसे उपयोग नहीं लगता होनेसे, तद्उपरांत विस्मृति हो जाती है इस कारणसे दूसरे किसीको दुःखरूप नहीं हो जाये तो अच्छा ऐसी चाहना सम्बन्धमें आये हुए जीवके प्रति रहती है; तथापि दूसरेको अच्छा लगानेका उसमें लक्ष्य नहीं है। वह कार्य कुदरतका है। खुदका काम तो दशाकी पूर्णता प्राप्त करनेका है, अतः ऐसा करते हुए दूसरे किसीको जाने-अनजानेमें भी हमारेसे संताप होवे तो विनम्रतासे उनके प्रति दासत्व प्रगट करके, किसीको दुःख न लगे, उसप्रकार समाधान किया है; फिर भी दूसरे जीवोंके परिणाम सम्बन्धी स्वयंकी निरुपायता है, इस स्थितिमें विशेष चिंता नहीं करके सब कुदरत अधीन छोड़कर स्वरूपकी सावधानीमें रहनेका अभिप्राय है और एक क्षण भी निज परमानंदस्वरूप हरिका विस्मरण नहीं करना - इसी आशयसे सर्व पुरुषार्थ / प्रवृत्ति हो रही है। यहाँ उनकी दशामें निर्दोषता और पवित्रताके दर्शन होते हैं।

२५५

बंबई, आषाढ़ सुदी १३, १९४७

``एक पुराणपुरुष और पुराणपुरुषकी प्रेमसंपत्तिके बिना हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता; हमें किसी पदार्थमें रुचि मात्र नहीं रही है; कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं होती; व्यवहार कैसे चलता है इसका भान नहीं हैं; जगत किस स्थितिमें है इसकी स्मृति नहीं रहती; शत्रु-मित्रमें कोई भेदभाव नहीं रहा; कौन शत्रु है और कौन मित्र है, इसका ख्याल रखा नहीं जाता; हम देहधारी हैं या नहीं इसे जब याद करते हैं तब मश्किलसे जान पाते हैं; हमें क्या करना है, यह किसीसे जाना नहीं जा सकता; हम सभी पदार्थोंसे उदास हो जानेसे चाहे जैसे वर्तन करते हैं, व्रत नियमोंका कोई नियम नहीं रखा; जात-पाँतका कोई प्रसंग नहीं है; हमसे विमुख जगतमें किसीको नहीं माना; हमारे सन्मुख ऐसे सत्संगी नहीं मिलनेसे खेद रहा करता है, संपत्ति पूर्ण है इसलिये संपत्तिकी इच्छा नहीं है; अनुभूत शब्दादि विषय स्मृतिमें आनेसे - अथवा ईश्वरेच्छासे उनकी इच्छा नहीं रही है; अपनी इच्छासे थोड़ी ही प्रवृत्ति की जाती है; हरि इच्छित क्रम जैसे चलाता है वैसे चलते हैं; ह्रदय प्रायः शून्य जैसा हो गया है; पाँचों इन्द्रियाँ शून्यरूपसे प्रवृत्त होती रहती हैं। नय, प्रमाण इत्यादि शास्त्रभेद याद नहीं आते; कुछ पढ़ते हुए चित्त स्थिर नहीं रहता; खानेकी, पीनेकी, बैठनेकी, सोनेकी, चलनेकी और बोलनेकी वृत्तियाँ अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करती रहती हैं; मन अपने अधीन है या नहीं, इसका यथायोग्य भान नहीं रहा। इस प्रकार सर्वथा विचित्र उदासीनता आनेसे चाहे जैसी प्रवृत्ति की जाती है। एक प्रकारसे पूरा पागलपन है। एक प्रकारसे उस पागलपनको कुछ छिपाकर रखते हैं, और जितना छिपाकर रखा जाता है उतनी

हानि है। योग्य प्रवृत्ति करते हैं या अयोग्य इसका कुछ हिसाब नहीं रखा। आदिपुरुषमें अखण्ड प्रेमके सिवाय दूसरे मोक्षादि पदार्थोंकी आकांक्षाका भंग हो गया है। इतना सब होते हुए भी मनमानी उदासीनता नहीं है, ऐसा मानते हैं। अखण्ड प्रेमखुमारी जैसी प्रवाहित होनी चाहिये वैसी प्रवाहित नहीं होती, ऐसा समझते हैं। इतनी अधिक उदासीनता होने पर भी व्यापार करते हैं, लेते हैं, देते हैं, लिखते हैं, पढ़ते हैं, सम्भालते हैं और खिन्न होते हैं; और फिर हँसते हैं - जिसका ठिकाना नहीं ऐसी हमारी दशा है।''

परमकृपालुदेवकी दशा वर्तमानमें कैसी वर्तती है, यह जाननेकी इच्छा श्री सौभाग्यभाईको रहती है, इसलिए इस पत्रमें संक्षेपमें स्वयंने लिख दी है। उक्त लेखनीमें आभ्यंतर दशाकी रोचक अभिव्यक्तिका दर्शन होता है।

उन्हें पुराणोंमें सराहनीय परम पदार्थ, गुण निधान, निज़स्वरूपकी महिमाके अलावा कुछ सुहाता नहीं या रुचता नहीं, अतः कुछ भी प्राप्त करनेकी इच्छा सहजरूपसे नहीं होती। चलते व्यवहारमें असावधानी - अजागृतिरूप बेभानपना है, समस्त जगतके प्रति दुर्लक्ष है। इतना ही नहीं परन्तु स्वयंको कौन अनुकूल है या कौन प्रतिकूल है इसकी खबर भी स्वयं नहीं रख पाते हैं। (सामान्य मनुष्यको खुदको कौन अनुकूल-प्रतिकूल है इसका लक्ष्य छूट नहीं सकता। मिथ्यात्वके शल्यवश ऐसा लक्ष्य रहा करता है। परन्तु शल्यरहित महात्माएं इससे पर होते हैं।) कृपालुदेव इस वक्त आत्माकी अत्यंत मस्तीमें विचरते हैं और समीपमें देहका अस्तित्व है या नहीं इसका भी विस्मरण हो जाता है। बहुत मुश्किलसे याद कर पाते हैं कि अभी हम देहधारी हैं। नमस्कार हो ! परम सत्कार हो ! ऐसे आत्मभावको !

ऐसे मस्त आत्मभावके कारण शब्दादिक विषयोंकी वृत्ति उपशांत हो गई है। व्रत, नियम लेनेकी कृत्रिम वृत्ति सहज ही उत्पन्न नहीं होती। अन्य इच्छाओंका प्रमाण अल्प और मंद है, प्रायः कुदरतके क्रमका अनुसरण करते हैं। इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिमें शून्य-मनस्करूप हो चुके हैं। इतना इन्द्रिय विषयरस नीरसताको प्राप्त हो चुका है। शास्त्रवांचनके शुभ परिणामोंमें भी चित्त चोंटता नहीं है। नय, प्रमाण और तत्त्वज्ञानके अनेक भेद-प्रभेदोंके विषय ज्ञानमें होने पर भी विस्मरण तुल्य हो चुके हैं। निर्विकल्प आभ्यंतर परिणतिमें आत्मरस और आत्मजागृतिकी इतनी उग्रता वर्तती है।

उक्त दशाके कारण बाह्यमें मन, वचन, कायाकी प्रवृत्ति मर्यादित हो चुकी है। जो कुछ है उसमें भी सावधानीका अभाव है। खाने-पीने इत्यादि उदयकी क्रियाएं कर्मोदय अनुसार चलती हैं। जिसकी योग्यता-अयोग्यता सम्बन्धित असावधानी है अथवा सर्व प्रकारसे विचित्र ऐसी उदासीनता संप्राप्त होनेसे चाहे जैसे वर्तते हैं।

अंतरमें पूर्णता प्राप्त करनेकी पागलपन जैसी तीव्रता है। लोकव्यवहारको देखते हुए तथारूप पागलपनको गुप्त रखना पड़ता है, इतना संकोच जो होता है उतनी हानि है अर्थात् मोक्षमार्गीको निःसंकोचरूपसे अंतरप्रवृत्तिमें पुरुषार्थपूर्वक प्रवर्तना उचित है। यद्यपि वर्तमान दशाको गौण करके, एक निज परमात्मतत्त्वमें एकतार वृत्तिसे प्रेम-प्रवाह / महिमामें रहते हुए मोक्षकी आकांक्षा भी नहीं रही, ऐसी बलवान द्रव्यदृष्टि विद्यमान है। जब की दूसरी ओर पूर्णताके लक्ष्यसे; अपूर्णदशाके कारण असंतोष भी वर्तता है। और इतना कुछ होने पर भी अपूर्णता भासित हो रही है, इस वज़हसे खेद रहता है। उदासीनभावसे व्यापार आदिकी प्रवृत्ति चल रही हैं। इसतरह विचित्रदशाका संक्षेपमें वर्णन किया है और जब तक पूर्णता प्राप्त

नहीं होगी तब तक खेद नहीं मिटेगा, ऐसा लगता है। इसमें अपूर्णताका निषेध वर्तता है।

२५७

बंबई, आषाढ़ वदी ४, १९४७

``बहुत कुछ लिखना सूझता है, परन्तु लिखा नहीं जा सकता। उनमें भी एक कारण समागम होनेके बाद लिखनेका है। और समागमके बाद लिखने जैसा तो मात्र प्रेम-स्नेह रहेगा, लिखना भी वारंवार आकुल होनेसे सूझता है। बहुतसी धाराएँ बहती देखकर, कोई कुछ पेट देने योग्य मिले तो बहुत अच्छा हो, ऐसा प्रतीत हो जानेसे, कोई न मिलनेसे आपको लिखनेकी इच्छा होती है।''

परम कृपालुदेवकी विचारशक्ति और चिंतनशक्ति असाधारण प्रबल होनेके कारण विचारधारा और चिंतनधारा बहुत ही चलती है; उस विषयमें श्री सौभाग्यभाईको लिखनेका विचार भी आता है; परन्तु प्रत्यक्ष समागम होनेके बाद और प्रत्यक्ष समागममें कुछ स्पष्टीकरण होनेके बाद लिखना उचित लगता है। फिर भी वैसा लिखनेका विषय बहुत एकत्र हो जानेसे बारंबार आकुल होनेसे लिखना सूझता है; परन्तु हमारे चिंतनका विषय समझनेवाला पात्र यानी कि `पेट देने योग्य' (अर्थात् हृदयकी बात जिसे कह सके) कोई मिले तो अच्छा, ऐसा लगनेसे कोई नहीं मिलनेसे श्री सौभाग्यभाईको लिखनेकी इच्छा होती है।

शास्त्रमें मार्ग कहा है, मर्म नहीं कहा। मर्म तो सत्पुरुषके अन्तरात्मामें रहा है। *(कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी)*

२५९

बंबई, श्रावण सुदी ११, बुध, १९४७

``हमारा चित्त तो बहुत हरिमय रहता है, परन्तु संग सब कलियुगके रहे हैं। मायाके प्रसंगमें रात-दिन रहना होता है; इसलिये पूर्ण हरिमय चित्त रह सकना दुर्लभ होता है, और तब तक हमारे चित्तका उद्वेग नहीं मिटेगा।''

इस पत्रमें भी स्वयंकी आत्मामयदशा बहुत रहती है उसका उल्लेख किया है। एक तरफ अंतरमें चैतन्यमय उग्र दशा है तो दूसरी तरफ़ वर्तमान कलियुग अनुसार अनेक प्रकारके व्यावसायिक और व्यावहारिक प्रसंगमें प्रर्वतनसे पूर्ण चैतन्यमय चित्तका रहना दुर्लभ होता है और ऐसा लगता है कि जब तक पूर्ण दशा नहीं होगी तब तक चित्तका यह उद्वेग नहीं मिटेगा। यहाँ पर मोक्षमार्गी धर्मात्माओंकी दशा संबंधी एक सिद्धांत स्पष्ट होता है कि अध्यात्मदशा विशेषतापूर्ण होने पर भी, पूर्णताका लक्ष्य होनेसे वर्तमान दशाका संतोष नहीं होता परन्तु अपूर्णताका उद्वेग चालू रहता है।

``आपने (सौभाग्यभाईने) दोहे इत्यादि लिख भेजे यह अच्छा किया। हम तो अभी किसीकी सम्भाल नहीं ले सकते। अशक्ति बहुत आ गयी है, क्योंकि चित्त अभी बाह्य विषयमें नहीं जाता।''

श्री सौभाग्यभाईने दोहा इत्यादि कुछ लिखकर भेजा है उसका निषेध नहीं किया बल्कि अनुमोदन किया है, साथ ही साथ अपनी दशाका उल्लेख किया है कि आपकी लिखावट हुए सम्बन्धित उपयोग देकर (सम्भाल लेकर) कुछ लिख सके ऐसी हमारी चित्तस्थिति नहीं है। हमारे आत्मस्वरूपके अलावा किसी भी दूसरे विषयमें उपयोग देनेके लिए परिणाममें बहुत अशक्ति आ गयी है अर्थात् बाह्याकार

उपयोगका ज़ोर टूट गया है। कैसी आत्मामयदशा होगी! यह उक्त वचनोंसे समझने योग्य है।

२६९

ववाणिया, भाद्रपद वदी ३, सोम, १९४७

``ईश्वरेच्छा होगी तो प्रवृत्ति होगी; और उसे सुखदायक मान लेंगे; परन्तु मनमाने सत्संगके बिना कालक्षेप होना दुष्कर है। मोक्षकी अपेक्षा हमें संतकी चरणसमीपता बहुत प्रिय है; परन्तु उस हरिकी इच्छाके आगे हम दीन हैं। पुनः पुनः आपकी (सौभाग्यभाईकी) स्मृति होती है।''

कृपालुदेवको बाह्य प्रवृत्तिकी चिंता नहीं है, इस वचनामृतका आशय है कि जिस कालमें जो कुछ भी बाह्यप्रवृत्ति जिस क्षेत्रमें जिस अन्य संयोगोंके बीच होनेवाली होगी वह होगी, इसकी चिंता व्यर्थ है, और उसकी (प्रवृत्तिकी) चिंता करनेसे एकांत नुक़सान ही अथवा आकुलता ही है; अतः जो कुछ भी प्रवृत्ति होगी वह कुदरतके नियमानुसार होगी, ऐसे समाधानसे सुखदायक मान लेंगे। तत्संबंधित कोई पूर्वगृहीत अपेक्षा नहीं है, तथापि वर्तमानमें मनवांछित सत्संग नहीं है इसका दुःख अवश्य है। सत्संग बिना समय व्यतीत होना दुष्कर है। यद्यपि मुमुक्षुको तो मोक्ष सर्वाधिक प्रिय होता है, फिर भी वह मोक्ष संतचरणकी समीपताके बिना प्राप्त होना असंभवित है; अतः मोक्षेच्छुको सर्वप्रथम सत्संगकी आराधना कर्तव्य है - इस अनुपम सिद्धांतका यहाँ पर दर्शन होता है। वे स्वयं भी सत्संगके वियोगमें कुदरतके उक्त नियम के अधीन रहकर समाधान कर रहे हैं। साथ ही साथ सत्संग योग्य श्री सौभाग्यभाईका स्मरण अनिवार्यरूपसे हो आता है, वह सत्संगके प्रति प्रेम / महिमाकी वृत्तिका द्योतक है।

२७७

ववाणिया, भादों वदी ७, १९४७

``**चित्त उदास रहता है, कुछ अच्छा नहीं लगता; और जो कुछ अच्छा नहीं लगता वही सब दिखायी देता है, वही सुनायी देता है। तो अब क्या करे ? मन किसी कार्यमें प्रवृत्ति नहीं कर सकता। जिससे प्रत्येक कार्य स्थगित करना पड़ता है। कुछ पढ़ने, लिखने या जनपरिचयमें रुचि नहीं होती। प्रचलित मतके प्रकारकी बात सुनायी पड़ती है कि हृदयमें मृत्युसे अधिक वेदना होती है।**''

अध्यात्मपरिणतिकी विशेषताके कारण बाहरमें चित्तकी उदासीनता रहती है, कुछ सुहाता नहीं। इस हीनकालमें बाह्य परिस्थिति भी अंतरदशाको ज़रा भी सुसंगततावाली नहीं है, अर्थात् जो कुछ नहीं सुहाता है वही सब नज़रमें आता हैं और सुननेमें आता हैं। परिणामतः मन कहीं भी नहीं लगनेसे किसी भी कार्यमें प्रवृत्ति नहीं की जा सकती है। उदयमें आ पड़े कार्योंको भी प्रायः स्थगित करना पड़ता है। तथा वांचन, लेखन, या लोकपरिचयमें बिलकुल भी रुचि नहीं होती। वर्तमानमें जैनशासनके नामसे चल रहे संप्रदायकी परिस्थिति सम्बन्धित बात सुनने पर अंतरमें मृत्युसे अधिक आघात लगता है क्योंकि धार्मिक समाज मूलमार्गसे अत्यंत विमुख वर्तता है। (प्रायः गृहीत मिथ्यात्वका पोषण हो ऐसी संप्रदायकी स्थिति है।) इस पत्रमें धर्मात्माका बाह्यांश परिणमन किस प्रकारका होता है यह दर्शनीय है। यथास्थानमें ज्ञानीपुरुषको ऐसे प्रशस्त परिणाम सहज होते हैं, ऐसा समझने योग्य है।

२८२

ववाणिया, भादों वदी १४, गुरु,१९४७

``**हमें सत्संगकी न्यूनताके कारण कुछ भी अच्छा नहीं लगता। .... किसीसे अर्थसम्बन्ध और कामसम्बन्ध तो बहुत समयसे अच्छे ही नहीं लगते। आजकल धर्मसम्बन्ध और मोक्षसम्बन्ध भी अच्छे नहीं लगते। धर्मसम्बन्ध और मोक्षसम्बन्ध तो प्रायः योगियोंको भी अच्छे लगते हैं; और हम तो उनसे भी विरक्त रहना चाहते हैं। अभी तो हमें कुछ अच्छा नहीं लगता, और जो कुछ अच्छा लगता है, उसका अतिशय वियोग है। अधिक क्या लिखें ? सहन करना ही सुगम है।**''

इस पत्रमें कृपालुदेव श्री सौभाग्यभाईके सत्संगकी भावना व्यक्त करते हैं कि सत्संगकी न्यूनताके कारण कुछ नहीं सुहाता। जगतके सम्बन्ध (अर्थसम्बन्ध और कामसम्बन्ध) तो बहुत समयसे, सुहाते ही नहीं। यानी कि जबसे तीव्र मुमुक्षुता उत्पन्न हुई है और जिसके फलरूप ज्ञानदशामें परिणमन कर रहे हैं - तबसे जगतके कोई सम्बन्ध सुहाते ही नहीं। ज्ञानदशामें स्वरूपकी मस्तीके कारण योगियोंको प्रिय ऐसे धर्मसम्बन्ध और मोक्षसम्बन्ध अर्थात् उसरूप दशाकी भी उपेक्षा रहती है। अर्थात् उस विकल्पसे भी विरक्त रहनेका अभिप्राय है। एक श्री सौभाग्यभाईका समागम ही रुचता है परन्तु उनका वियोग है और उसमें निरुपायता है इसलिए परवशतासे उसे सहन करने योग्य है।

वर्तमान भूमिकामें कृपालुदेव और श्री सौभाग्यभाई जैसे उत्तम कोटिके दशावान जीवोंको भी सत्संग कितना प्रिय है और परम हितकारी है, यह इस पत्रसे प्रदर्शित होता है और किसी भी मुमुक्षुजीवको सत्संगमें रहनेका बोध इस पत्रसे मिलता है।

२८८

ववाणिया, आसोज वदी ५, १९४७

``**एक आत्मवृत्तिके सिवाय हमारे लिये नया पुराना तो कहाँ है ? और उसे लिखने जितना मनको अवकाश भी कहाँ है ?**''

एक आत्मवृत्तिकी मुख्यता होनेसे जगतमें बन रहे प्रसंग अप्रयोजनभूत लगनेसे तत्संबंधित विचार करनेके लिए मनको अवकाश नहीं है। इतना ही नहीं जगतमें बन रहे नये-नये प्रसंग सम्बन्धी कुतूहल प्रायः मनुष्योंको रहता है, वैसी कुतूहलवृत्ति ज्ञानदशामें स्वयंको छूट गई है। क्योंकि जगतमें बन रहे प्रसंगोंका कोई महत्व नहीं रहा। जगतके प्रति ज्ञानीपुरुषकी वृत्ति विलक्षण प्रकारकी होती है, इसका संकेत इसप्रकार संक्षेपमें उक्त वचनोंमें रहा है।

२९१

ववाणिया, आसोज वदी १२, गुरु, १९४७

``**आत्मा ब्रह्मसमाधिमें है। मन वनमें है। एक दूसरेके आभाससे अनुक्रमसे देह कुछ क्रिया करती है, इस स्थितिमें सविस्तार और संतोषरूप आप दोनोंके पत्रोंका उत्तर कैसे लिखना ? इसे आप कहें।**''

अपनी आत्मदशाका वर्णन करते हुए कृपालुदेव लिखते हैं कि हमारा आत्मा ब्रम्हसमाधिमें है अर्थात् स्वरूपसमाधिमें आत्माका अच्छासा परिणमन चल रहा है कि जिसके कारण आत्मासे यानी कि अंतरआत्मपरिणतिसे मन अलग हो चुका है और वह अलग हुआ मन भी जगतके प्रसंगोंमें प्रवर्तित नहीं है अर्थात् उदयभावों एवं कार्योंमें नीरसतासे वर्तता है। अंतर-बाह्य परिणामोंकी ऐसी सहज स्थिति हो गई है, इसका दर्शन यहाँ पर होता है। यह एक ज्ञानदशाका खास

प्रकारका / विलक्षण प्रकारका फेरफार है, जो ध्यानमें लेने योग्य है। आत्मा और मनकी क्रिया - प्रतिक्रियासे देहकी क्रिया स्वयं होने योग्य होती है, जिसमें भिन्नताकी वज़हसे खुदकी कोई प्रेरणा नहीं है, अतः यथोचित पत्रोत्तर भी नहीं लिख सकते हैं।

२९३

ववाणिया, आसोज वदी १३, शुक्र, १९४७

``**हमें विरहकी वेदना अधिक रहती है, क्योंकि वीतरागता विशेष है; अन्य संगमें बहुत उदासीनता है, परन्तु हरीच्छाके अनुसार प्रसंगोपात विरहमें रहना पड़ता है; जिस इच्छाको सुखदायक मानते हैं, ऐसा नहीं है। भक्ति और सत्संगमें विरह रखनेकी इच्छाको सुखदायक माननेमें हमारा विचार नहीं रहता। श्री हरिकी अपेक्षा इस विषयमें हम अधिक स्वतंत्र है।**''

श्री सौभाग्यभाईके साथ सत्संगका विरह रहता है इसकी वेदना, विशेष वीतरागताके सद्भावमें और वीतरागताके कारण भी रहती है, जिसकी असाधारण अभिव्यक्ति इस पत्रमें है।

सामान्यतः ज्ञानीपुरुष बाह्यसंगमें उदासीन रहते हैं और अन्य संगके प्रति अत्यंत उदासीनता होने पर भी, सत्संगकी बाबतमें कुदरतकी परिस्थिति (वियोगमें रहनेकी) को जैसे खुदका आत्मा स्वीकार नहीं करता है, (इस विषयमें पूर्ण समाधान होने पर भी) भक्ति और सत्संगका माहात्म्य एवम् अपूर्वता दर्शानेके लिए वे अपना अभिप्राय व्यक्त करते हैं कि ऐसी स्थितिको सुखदायक माननेमें हमारा विचार (अभिप्राय) नहीं रहता, और स्वतंत्ररूपसे यह परिस्थिति न रहे यानी कि सत्संगका विरह मिटानेकी कुदरतको भी फ़र्ज पड़े - ऐसी सत्संगकी भावना यहाँ व्यक्त होती है।

सिद्धांत भी ऐसा है कि `चैतन्यको चैतन्यमेंसे परिणमित भावना अर्थात् राग-द्वेषमेंसे नहीं उदित हुई भावना - ऐसी यथार्थ भावना हो तो वह भावना फलती ही है। ....चैतन्यके परिणामके साथ कुदरत बँधी हुई है।' (पूज्य बहिनश्री चंपाबहिनके वचनामृत - २१) - ऐसा सिद्धांतिय संकेत कृपालुदेवके उक्त वचनामृतमें रहा है।

सत्पुरुषोंने सद्गुरुकी जिस भक्तिका निरूपण किया है, वह भक्ति मात्र शिष्यके कल्याणके लिये कही है। जिस भक्तिको प्राप्त होनेसे सद्गुरुके आत्माकी चेष्टामें वृत्ति रहे, अपूर्व गुण दृष्टिगोचर होकर अन्य स्वच्छन्द मिटे, और सहजमें आत्मबोध हो, ऐसा जानकर जिस भक्तिका निरूपण किया है, उस भक्तिको और उन सत्पुरुषोंको पुनः पुनः त्रिकाल नमस्कार हो ! (कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी)

परमात्माका ध्यान करनेसे परमात्मा हुआ जाता है। परन्तु आत्मा उस ध्यानको सत्पुरुषके चरण- कमलकी विनयोपासनाके बिना प्राप्त नहीं कर सकता, यह निर्ग्रंथ भगवानका सर्वोत्कृष्ट वचनामृत है।

(कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी)

वर्ष - २५वाँ

२९८

ववाणिया, कार्तिक सुदी ४, गुरु, १९४८

``सत्संगका योग नहीं है, और वीतरागता विशेष है, इसलिये कहीं भी चैन नहीं है, अर्थात् मन विश्रांति नहीं पाता। अनेक प्रकारकी विडंबना तो हमें नहीं है, तथापि निरंतर सत्संग नहीं है, यह बड़ी विडंबना है। लोकसंग नहीं रुचता।''

इस पत्रमें स्वयंकी अंतरदशाका स्पष्ट उल्लेख है कि अंतरमें वीतरागता विशेष है और बाहरमें सत्संग नहीं होनेसे मन कहीं भी नहीं लगता - शांत नहीं होता। दूसरी कोई विडंबना नहीं है; परन्तु सत्संग नहीं है, यह बड़ी विडंबना है। लोकसंग तो केवल असत्संगका प्रसंग होनेसे, वह रुचता नहीं। अध्यात्मदशामें विचरते ज्ञानीपुरुषको बाह्य परिणाम अंशमें सत्संग और असत्संग विषयक ऐसी परिस्थिति सहज उत्पन्न हो जाती है, ज्ञानदशाकी इस विलक्षणताको भी लक्ष्यमें लेने योग्य है।

३०८

बंबई, मगसिर सुदी १४, मंगल, १९४८

``असंगवृत्ति होनेसे अणुमात्र उपाधि सहन हो सके ऐसी दशा नहीं है, तो भी सहन करते हैं।''

निरुपाधिक स्वरूपमें निरुपाधिकभावसे / समाधिभावसे रहनेवालेको उपाधिभावका वेदन असह्य हो जाता है। असंगवृत्ति होनेसे अणुमात्र उपाधि सहन नहीं होती है, फिर भी निरुपायतासे सहन करनी पड़ती है। कृपालुदेव जैसे महापुरुषके ऐसे वचन, कुदरतकी कोई बेहद क्रूरताको सूचित करते हैं, फिर भी समाधिभावसे रहते हैं। धन्य

है ! उनकी साधनाको !

✤

३१२

बंबई, पौष सुदी ५, मंगल, १९४८

``क्षायिक चारित्रको याद करते हैं।''

कृपालुदेव वीतरागभावकी उन्नत श्रेणीमें प्रगति करते-करते क्षायिक चारित्रका स्मरण करते हैं अर्थात् भावनामें लेते हैं। ज्ञानमें क्षायिक चारित्रका स्वरूप यथातथ्य भासित होता है, वह इस रूपमें कि स्वयंको इसकी समीपता भी भासित होती है। वंदन हो ! उनकी महान परिणतिको !

✤

३१३

बंबई, पोष सुदी ७, गुरु, १९४८

``ज्ञानीके आत्माको देखते हैं और वैसे होते हैं।''

ज्ञानीके आत्माको देखते हैं अर्थात् उनकी आत्मरमणताका अवलोकन करते हुए हमारा भी उस दशारूप परिणमन होता है - ऐसा गुण उत्पन्न होता है। ज्ञानीपुरुषकी अंतरदशाका अवलोकन करनेकी यह यथार्थ कार्यपद्धति है। जो कृपालुदेवके उक्त मौलिक वचन प्रयोगसे प्रदर्शित होती है।

``कोई इस प्रकारका उदय है कि अपूर्व वीतरागताके होने पर भी हम व्यापार सम्बन्धी कुछ प्रवृत्ति कम कर सकते हैं, तथा खाने-पीने आदिकी प्रवृतियाँ भी बड़ी मुश्किलसे कर पाते हैं। मन कहीं भी विराम नहीं पाता, प्रायः यहाँ किसीके समागमकी वह इच्छा नहीं करता। कुछ लिखा नहीं जा सकता। अधिक परमार्थवाक्य कहनेकी इच्छा नहीं होती। किसीके द्वारा पूछे गये प्रश्नोंके उत्तर

जानते हुए भी लिख नहीं सकते। चित्तका भी अधिक संग नहीं है, और आत्मा आत्मभावमें रहता है''

``समय-समयपर अनन्तगुणविशिष्ट आत्मभाव बढ़ता हो ऐसी दशा रहती है, जिसे प्रायः भाँपने नहीं दिया जाता, अथवा भाँप सकनेवालेका प्रसंग नहीं है।''

``आत्माके विषयमें सहज स्मरणसे प्राप्त हुआ ज्ञान श्री वर्धमानमें था ऐसा मालूम होता है। पूर्ण वीतराग जैसा बोध हमें सहज ही याद आ जाता है।''

यहाँ पर स्वयंकी अंतर-बाह्य दशाका वर्णन करते हुए कृपालुदेव कहते हैं कि हमारे आत्मामें अपूर्व वीतरागता है, फिर भी कुछ इस प्रकारके उदय हैं कि व्यापार सम्बन्धी कुछ प्रवृत्ति कर सकते हैं। यद्यपि समय-समय पर अनन्तगुण विशिष्ट आत्मभाव बढ़ता जाये, ऐसी सहज दशा रहती है, इसलिए बाह्य प्रवृत्तिमें खाना-पीना इत्यादि बड़ी मुश्किलसे कर पाते हैं, अर्थात् उसमें बहुत बोझा लगता है। व्यावसायिक प्रवृत्ति भी ऊपर-ऊपरके उपयोगसे होती है परन्तु मन कहीं भी नहीं लगता; इतना ही नहीं यहाँ पर किसीके समागमकी इच्छा भी नहीं होती, कुछ लिख भी नहीं पाते, परमार्थ वचन भी अधिक बोलनेकी इच्छा नहीं होती। पत्रव्यवहारमें किसीसे पूछे गये प्रश्नोंके उत्तर जानने पर भी लिखनेके लिए उपयोग सहज ही लंबाता नहीं है, इसलिय प्रायः उत्तर लिख नहीं सकते। आत्मासे भिन्न ऐसे मनका संग भी कम हो चुका है, अर्थात् मनपरिणामके साथ आत्माका एकत्व नहीं है; और उसका कारण आत्मा आत्मभावमें वर्तता है, वह है अर्थात् आत्मा देहभावमें नहीं वर्तता। तथापि हमारी इस दशाको किसीको भाँपने नहीं देते, उस प्रकार रहते हैं। यद्यपि ऐसी अलौकिक दशाको भाँप सके ऐसे जीवोंका संग-प्रसंग भी वर्तमानमें

नहीं है।

आजसे करीब २५०० वर्ष पूर्व तीर्थंकरदेव श्री वर्धमानस्वामीको जैसा आत्मज्ञान प्राप्त था, वैसा ही आत्मज्ञान उन्हें प्राप्त हुआ है, ऐसा प्रत्यक्ष सातिशय परिणमनसे मालूम पड़ा है और निःशंक प्रतीत हुआ है। श्री तीर्थंकरदेव पूर्ण वीतरागतामें बिराजमान रहकर जो बोध प्रकाशित करते थे वैसा बोध स्वयं प्रकाशित कर सकते हैं ऐसा लगता है।

अतः मुमुक्षुजीवको ऐसा समझने योग्य है कि बोध प्राप्तिके लिए वे श्री तीर्थंकरदेव जैसे ही निमितत्त्वके धारक थे। जिन मुमुक्षुजीवोंने इसप्रकार कृपालुदेवको पहचाना वे वाकई संसारसे पार हो गये, जिसमें उनके उक्त वचन साक्षीभूत हैं।

३१७

बंबई, पौष वदी ९, रवि, १९४८

``**चित्त प्रायः वनमें रहता है, आत्मा तो प्रायः मुक्तस्वरूप लगता है। वीतरागता विशेष है। बेगारकी भाँति प्रवृत्ति करते हैं; दूसरोंका अनुसरण भी करते हैं। जगतसे बहुत उदास हो गये हैं। बस्तीसे तंग आ गये हैं। किसीको दशा बता नहीं सकते। बताने जैसा सत्संग नहीं है; मनको चाहें वैसे मोड़ सकते हैं इसलिए प्रवृत्तिमें रह सके हैं। किसी प्रकारसे रागपूर्वक प्रवृत्ति न होती हो ऐसी दशा है, ऐसा रहता है। लोकपरिचय अच्छा नहीं लगता। जगतमें चैन नहीं पड़ता**''

इस पत्रमें भी स्वयंकी बाह्याभ्यंतर दशाका वर्णन है। जैसे उदास होकर कोई मनुष्य जंगलमें चला जाये, वैसा मन रहता है अर्थात् मनमें अत्यंत उदासीनता हो गई है। आत्माका अवलोकन करने पर

आत्मा तो मुक्त-स्वरूप अनुभवमें आता है और इसलिए वीतरागता विशेष / मुख्य है। बाह्यप्रवृत्ति बेगारकी माफ़िक करनेमें आती हैं। और जैसे दूसरे कहते हैं वैसे सरलतासे अनुसरण करनेका बनता है। सारे जगतसे एकदम उदासीनता चल रही है। बंबईकी बस्तीसे तंग आ गये हैं। बाहरमें बंबई जैसे क्षेत्रमें रहना पड़े, वह परिणमन को अनुकूल नहीं होने पर भी, मनके परिणाम काबूमें होनेसे रहा जाता है; तथापि कोई भी प्रवृत्ति रागपूर्वक नहीं होती; परन्तु परेच्छासे होती है, ऐसी दशा है। लोगोंका परिचय तो बिलकुल नहीं सुहाता। जगतमें सत्संगके अलावा कहीं भी चैन पड़े ऐसा स्थान नहीं है, परन्तु बंबईमें तो अपनी दशाको कह सके ऐसा सत्संग प्राप्त नहीं है। पूर्वकर्मकी निर्जरा हेतु इस स्थितिमें, आत्मिक पुरुषार्थपूर्वक रहनेके अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं है।

कृपालुदेवकी उक्त प्रकारकी बाह्याभ्यंतर दशाका अवलोकन करते हुए ``ज्ञानी कहीं भी नहीं बँधते'' ऐसा जो शास्त्रवचन है, उसकी प्रतीति होती है। और उनकी सहज अलौकिक दशाके प्रति हृदय झुक जाता है।

३२२

बंबई, माघ वदी २, रवि, १९४८

``**हमें जो निर्विकल्प नामकी समाधि है वह तो आत्माकी स्वरूपपरिणति रहनेके कारण है। आत्माके स्वरूपसंबंधी तो हमें प्रायः निर्विकल्पता ही रहना संभव है, क्योंकि अन्यभावमें मुख्यतः हमारी प्रवृत्ति ही नहीं है।' .... वन और घर ये दोनों किसी प्रकारसे हमें समान हैं; तथापि पूर्ण वीतरागभावके लिए वनमें रहना अधिक रुचिकर लगता है; सुखकी इच्छा नहीं है परन्तु वीतरागताकी इच्छा**

है।''

तीनोंकालके धर्मात्माओंकी तरह कृपालुदेवको भी अंतरंग परिणमनमें निर्विकल्प स्वरूप समाधि वर्तती है। आत्माकी ऐसी स्वरूप परिणति मुख्यरूपसे परिणाममें वर्तती है। आत्माकी ऐसी स्वरूप परिणति मुख्यरूपसे परिणाममें वर्तती है और इसलिए अन्यभावमें सहज गौणतापूर्वक प्रवृत्ति होती है। स्वरूपमें तो निर्विकल्पता ही रहती है, इसके सिवा अन्य विकल्प असंभवित है।

आभ्यंतर-परिणतिकी साम्यभावरूप उग्रताके कारण बाह्य परिणमनमें वन और घर दोनों समान लगते हैं, अर्थात् ज्ञाताभावमें अन्य सर्व संयोग मात्र ज्ञेयरूप प्रतिभासित होते हैं, ऐसा समभाव उत्पन्न हुआ है। तथापि पूर्ण वीतराग भावकी भावना हेतु वनमें रहना रुचिकर व योग्य लगता है। यद्यपि किसी भी बाहरी अनुकूलता या प्रतिकूलताकी इच्छा नहीं है परन्तु पूर्ण वीतरागताकी भावना रहती है।

✲

३२३

बंबई, माघ वदी २, रवि, १९४८

``यहाँ समाधि है। पूर्णज्ञानसे युक्त ऐसी जो समाधि वह वारंवार याद आती है।''

``परमसत्का ध्यान करते हैं। उदासीनता रहती है।''

कृपालुदेव प्राप्त गुणस्थान अनुसार समाधिभावमें वर्तते हैं, तथापि पूर्ण ज्ञानयुक्त समाधिभाव वारंवार ज्ञानमें आता रहता है। ध्यान तो अंतरमें परम सत्स्वरूपका ही रहा करता है। जो स्वरूप ही ऐसा है कि ध्यानमेंसे खिसक नहीं सकता। अर्थात् ध्यान वहाँसे हट नहीं सके ऐसा अद्भुत से अद्भुत परम आत्मस्वरूप स्वयं ही है, अतः

बाहरमें उदासीनता रहती है, अर्थात् नीरसता रहती है।

मोक्षमार्गमें प्रवेश होनेके पश्चात् तेरह-चौदह महीनोंमें ही कृपालुदेवकी अध्यात्मदशा अत्यंत उग्रतापूर्वक चल रही है, जैसे मानो पूर्णताके प्रति दौड़ न लगायी हो ! धन्य साधना !

✲

३२४

बंबई, माघ वदी ४, बुध, १९४८

``चारों तरफ उपाधिकी ज्वाला प्रज्वलित हो उस प्रसंगमें समाधि रहना परम दुष्कर है, और यह बात तो परम ज्ञानीके बिना होना विकट है। हमें भी आश्चर्य हो आता है, तथापि प्रायः ऐसा रहा ही करता है ऐसा अनुभव है।''

``जिसे आत्मभाव यथार्थ समझमें आता है, निश्चल रहता है, उसे यह समाधि प्राप्त होती है।''

``सम्यक्दर्शनका मुख्य लक्षण वीतरागता जानते हैं, और वैसा अनुभव है।''

इस पत्रमें परम ज्ञानीका दृष्टांत देकर अपनी अलौकिक व आश्चर्यकारी दशाका उल्लेख किया है कि चारों तरफ उपाधिकी ज्वाला प्रज्वलित हो ऐसे प्रसंगमें परम ज्ञानीके अलावा अर्थात् उग्र पुरुषार्थवंत धर्मात्माको छोड़कर, मंद पुरुषार्थवंत साधकको समाधि रहना, वह परम दृष्कर व विकट है। कृपालुदेवको स्वयंको आश्चर्य हो वैसी सहज अनुभवदशा, अनेक प्रकारके उपाधियुक्त प्रसंगोंमें रहा करती है। उसका कारण कहते हुए लिखते हैं कि जिन्हें आत्मस्वभाव यथार्थ समझमें आता है और जो आत्मभावमें निश्चल रहते हैं, उन्हें ऐसी समाधि दशा सहज प्राप्त होती है। वाकई उनकी इस प्रकारकी समाधिदशा वंदनीय है!

सम्यक्दर्शनका मुख्य लक्षण वीतरागता है, ऐसा उल्लेख अपने स्वानुभवसे यहाँपर किया है। अतः ऐसा समझने योग्य है कि सम्यक्दर्शन वह सिर्फ श्रद्धाका परिणाम है, इतना ही नहीं; परन्तु अविनाभावीरूपसे जिसमें मुख्यतयाः वीतरागता प्रगट हुई हो, वही सम्यक्दर्शनका लक्षण है। वीतरागताका आचरण / अनुभव न हो, वहाँ सम्यक्दर्शन भी नहीं होता।

३२९

बंबई, माघ वदी, १९४८

``**अविकल्प समाधिका ध्यान क्षणभरके लिए भी नहीं मिटता। तथापि अनेक वर्षोंसे विकल्परूप उपाधिकी आराधना करते जाते हैं।**''

विकल्प रहित ऐसी समाधि-ध्यानरूप दशा निरंतर चालू रहती है। ऐसी निर्विकल्प परिणति निरंतर चलने पर भी विकल्परूप उपाधिका सम्यक्प्रकारसे वेदन किया जाता है और इस तरह सविकल्पदशामें एक प्रकारका आराधन चलता है और क्रमशः मुक्तिकी ओर आगे बढ़ा जाता है।

``**इस देहको धारण करके यद्यपि कोई महान ऐश्वर्य नहीं भोगा, शब्दादि विषयोंका पूरा वैभव प्राप्त नहीं हुआ, किसी विशेष राज्याधिकार सहित दिन नहीं बिताये, अपने माने जानेवाले किसी धाम व आरामका सेवन नहीं किया, और अभी युवावस्थाका पहला भाग चलता है, तथापि इनमेंसे किसीकी आत्मभावसे हमें कोई इच्छा नहीं होती, यह एक बड़ा आश्चर्य मानकर प्रवृत्ति करते हैं। और इन पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्ति दोनों एकसी जानकर बहुत प्रकारसे अविकल्प समाधिका ही अनुभव करते हैं। ऐसा होने पर भी वारंवार**

वनवासकी याद आती है, किसी प्रकारका लोकपरिचय रुचिकर नहीं लगता, सत्संगमें सुरत बहा करती है, और अव्यवस्थित दशासे उपाधियोगमें रहते हैं। एक अविकल्प समाधिके सिवाय सचमुच कोई दूसरा स्मरण नहीं रहता, चिंतन नहीं रहता, रुचि नहीं रहती, अथवा कुछ काम नहीं किया जाता। .... सांसारिक उपाधि हमें भी कुछ कम नहीं है, तथापि उसमें निज भाव न रहनेसे उससे घबराहट उत्पन्न नहीं होती। उस उपाधिके उदयकालके कारण अभी तो समाधि गौणभावसे रहती है, और उसके लिये शोक रहा करता है।''

उन्हें वर्तमान देह धारण करनेके पश्चात् कोई विशेष पुण्ययोग या पंचेन्द्रियके विषयक भोगना या उसकी प्राप्ति नहीं हुई और पूर्वकर्मके योगसे, जो कुछ भी संयोग प्राप्त हैं, उसका भी सुखबुद्धिसे सेवन नहीं किया। देह भी युवावस्थाके प्रारम्भमें (२५वाँ वर्ष) वर्तता है, फिर भी भोगादिकी कोई इच्छा आत्मभावसे नहीं होती; ऐसी आश्चर्यकारक आत्मतृप्ति वर्तती है; अर्थात् बाह्ययोगमें आत्मा नहीं वर्तता। शब्दादि विषयोंको भोगे बिना भी उन पदार्थोंकी प्राप्ति - अप्राप्तिमें समभाव वर्तता है और अंतरमें विकल्परहित ऐसी समाधिका अनुभव कर रहे हैं।

इतना होने पर भी कृपालुदेवको वारंवार वनवास स्मरणमें आता है अथवा वनवास प्रिय लगता है कि जहाँ अविक्षेपतापूर्वक आत्मध्यान किया जा सके। किसी भी प्रकारका लोकपरिचय नहीं सुहाता, एकमात्र सत्संग में प्रीति है और बिना लक्ष्य उपाधियोगमें रहना पड़ता है; परन्तु अंतरंगमें वीतराग परिणति मुख्य होनेसे सिवाय इसके दूसरा कुछ स्मरण या चिंतनमें नहीं रहता।

संयोगोंमें अनेक प्रकारकी उथल-पुथलके कारण उपाधि बहुत

हैं, तथापि उसमें अपनत्वका अनुभव नहीं होनेसे घबराहट उत्पन्न नहीं होती। फिर भी उसमें उपयोग देना पड़ता है और उपयोगभावसे समाधि गौण होती है, उसका दुःख रहा करता है।

उक्त प्रकारसे कृपालुदेवने इस पत्रमें भी अपनी बाह्याभ्यंतर दशा और संयोगोंके प्रति निर्ममत्व भाव व्यक्त किया है। जो कि सांसारिक उपाधिमें रहे मुमुक्षुके लिए स्वयं बोधस्वरूप है। जिस प्रकार कृपालुदेव भिन्न रहकर समभावसे प्रवृत्ति करते हैं वैसे प्रवर्तनका प्रयत्नरूप अभ्यास अर्थात् वारंवार प्रयत्न करना मुमुक्षुको योग्य है। इतना ही नहीं किसी भी कामके प्रसंगमें विशेष चिंतामें नहीं आ जाये, ऐसा प्रयास करना चाहिए कि जिससे ज्ञानदशामें प्रवेश होनेका अवसर प्राप्त हो।

३३४

बंबई, फागुन सुदि १०, बुध, १९४८

``बहुत बहुत ज्ञानीपुरुष हो गये हैं, उनमें हमारे जैसे उपाधिप्रसंग और उदासीन, अति उदासीन चित्तस्थितिवाले प्रायः अपेक्षाकृत थोड़े हुए हैं। उपाधिप्रसंगके कारण आत्मा संबंधी विचार अखण्डरूपसे नहीं हो सकता, अथवा गौणरूपसे हुआ करता है, ऐसा होनेसे बहुत काल तक प्रपंचमें रहना पड़ता हैं, और उसमें तो अत्यंत उदास परिणाम हो जानेसे क्षणभरके लिये भी चित्त स्थिर नहीं रह सकता; जिससे.... (सर्वसंग परित्याग हो) **इस प्रकारकी बाह्य एवं अंतरसे उपासना करते रहते हैं।''**

``देह होते हुए भी मनुष्य पूर्ण वीतराग हो सकता है ऐसा हमारा निश्चल अनुभव है। क्योंकि हम भी निश्चयसे उसी स्थितको प्राप्त करनेवाले हैं, यों हमारा आत्मा अखण्डरूपसे कहता है; और ऐसा ही है, अवश्य ऐसा ही है। पूर्ण वीतरागकी चरणरज निरंतर

मस्तकपर हो, ऐसा रहा करता है। अत्यंत विकट ऐसा वीतरागत्व अत्यंत आश्चर्यकारक है; तथापि यह स्थिति प्राप्त होती है, सदेह प्राप्त होती है, यह निश्चय है, प्राप्त करनेके लिये पूर्ण योग्य हैं, ऐसा निश्चय है। सदेह ऐसे हुए बिना हमारी उदासीनता दूर हो ऐसा मालूम नहीं होता और ऐसा होना सम्भव है, अवश्य ऐसा ही है।''

उक्त वचनामृतमें कृपालुदेवके उग्र पुरुषार्थके दर्शन होते हैं जिसकी अभिव्यक्ति हेतु लिखा गया है कि मोक्षमार्गको प्राप्त करनेवाले अनेक ज्ञानीपुरुष हो चुके हैं, फिर भी उग्र पुरुषार्थमें प्रवर्तमान धर्मात्माओंका प्रमाण कम है, अर्थात् करीब एक या अल्पभवमें समीप मुक्तिगामी हो, ऐसे धर्मात्मा कम हैं। (प्रायः मोक्षमार्गी जीव शास्त्रादि व्यवहार रत्नत्रयमें परिणमन करते-करते क्रमशः मंद पुरुषार्थसे आगे बढ़ रहे होते हैं।) कृपालुदेव जैसा उपाधि प्रसंग हो, और फिर भी उनके जैसी चित्तकी अति उदासीनताका रहना कि जिससे चित्त उसमें क्षणभर भी टीक न पाये ऐसा प्रकार होना, यह अति दुर्लभ है। ऐसी स्थितिमें आत्मा संबंधित विचार अखण्डरूपसे नहीं हो सकता, अनेक प्रकारके कार्योंमें काफी समय रहना पड़ता है। अतः जो संग अखण्डरूपसे आत्मध्यान या बोध मुख्यरूपसे न रखने दे, ऐसा सर्वसंगपरित्याग करके अप्रतिबद्धरूपसे विचरना होवे, उस प्रकारको वे अंतर-बाह्यरूपसे भजते हैं या वैसे पुरुषार्थमें लगे हुए हैं।

पुरुषार्थकी बलवत्तरता इतनी रहती है कि इसी देहमें पूर्ण वीतराग होनेका भाव रहता है। (पुरुषार्थके ज़ोरमें उन्हें पंचमकाल और संघयण आदि निमित्तोंका विस्मरण हो जाता है।) स्वयं पूर्ण स्थितिको अवश्य पानेवाले हैं ऐसा मानो उनका आत्मा सतत कह रहा है, इसलिए अत्यंत-अत्यंत निःशंकता वर्तती है। उक्त वचनामृत उन्होंने पुरुषार्थके

आधारसे प्रकाशित किये हैं, किसी भी प्रकारके अभिमानसे नहीं लिखे। जिसका सबूत यह है कि, आश्चर्यकारक ऐसा वीतरागत्व जिन्हें प्राप्त हुआ है, उनकी चरणरज निरंतर मस्तक पर हो - ऐसा कहकर विनम्र परिणामसे वीतरागदेवकी भक्ति की है। तथापि सदेह अवस्थामें इस दशाको प्राप्त करनेका अति उल्लासमय निश्चय व्यक्त हुआ है। इतना ही नहीं परन्तु स्वयंके परिणामोंका अवलोकन करते हुए लिखते हैं कि सदेह अवस्थामें पूर्ण हुए बिना अब हमारी उदासीनताका अंत नहीं आ सकता, अर्थात् उदासीनता छूटकर, रागादिमें उन्हें कभी आसक्ति नहीं होगी, ऐसी निश्चल प्रतीति वर्तती है।

मोक्षमार्गके प्रारम्भके सत्रहवे महीनेमें, पुरुषार्थकी ऐसी उग्र धाराके कारण इस कालकी चरमसीमारूप भवस्थिति - एकावतारीपना, कृपालुदेवको रह गया है; और इस पुरुषार्थको देखते हुए निश्चितरूपसे स्वयं पूर्णताके पथ पर होनेसे बाह्य प्रसंगोंके प्रति उदासीनता मिटेगी ही नहीं, ऐसा स्वयंको अनुभव हो रहा है। धन्य पुरुषार्थ ! धन्य आराधना !

✧

३३५

बंबई, फागुन सुदी १०, बुध, १९४८

``**उदास-परिणाम आत्माको भजा करता है।**''

स्वस्वरूपमें आत्माके पुरुषार्थकी उग्रताके कारण, अर्थात् आत्मस्वरूपके प्रति परिणामोंका खिँचाव रहनेके कारण, बाह्य कार्योंके विषयमें सहज अत्यंत उदासीनता वर्तती है। - इसप्रकारका विलक्षण परिवर्तन धर्मात्माकी दशामें होना अनिवार्य है।

श्री `समयसार' परमागममें, ऐसी दशाके धारक सम्यक्दृष्टि महात्माको नियमसे ज्ञान-वैराग्य शक्ति होती है, ऐसा प्रतिपादन आचार्य

महाराजने किया है, यह कृपालुदेवकी दशामें प्रगटरूपसे दिखाई पड़ता है।

मुनिदशामें बाह्य निवृत्ति होनेसे ज्ञान-ध्यानमें समयका निर्गमन होता है, परन्तु गृहस्थदशामें पूर्वकर्म अनुसार अनेक कार्योंका उदय रहता है, फिर भी उदासीनताके कारण अंतरंग परिणतिमें निरंतर समाधिभाव रहा करता है। लक्ष्य और ध्यान, स्वस्वरूप परसे हटता ही नहीं - ऐसी दशा रहती है।

✧

३३८

बंबई, फागुन सुदी १३, शुक्र, १९४८

``**परिणामोंमें अत्यन्त उदासीनता परिणमित होती रहती है। ज्यों-ज्यों ऐसा होता है, त्यों-त्यों प्रवृत्ति प्रसंग भी बढ़ते रहते हैं। अनिर्धारित प्रवृत्तिके प्रसंग भी प्राप्त हुआ करते हैं, और इससे ऐसा मानते हैं कि पूर्व निबद्ध कर्म निवृत्त होनेके लिये शीघ्र उदयमें आते हैं।**''

परम कृपालुदेवने इस पत्रमें भी उदासीनताका उल्लेख किया है। साथ ही साथ परिणामोंमें जिस प्रकारकी विशेषता चल रही है, उसका परमार्थदृष्टिसे गहराईमें जाकर विचार कर्तव्य है। ज्यों-ज्यों उदासीनता वृद्धिगत् हो रही है, त्यों-त्यों बाहरमें प्रवृत्तिके प्रसंग भी स्वतः बढ़ते चले जा रहे हैं और उसमें अनिर्धारित प्रवृत्ति प्रसंग भी प्राप्त होते जा रहे हैं; प्रसंगोंकी ऐसी भीड़ होने पर भी कृपालुदेवकी उदासीनता सहजरूपसे बढ़ती जा रही है। अतः स्वयंको यह प्रतीतिमें आ रहा है कि पूर्वमें जल्दबाज़ीमें (अज्ञानभावसे निबंधन किये हुए कर्म (स्थिति संक्षेप होकर) निवृत्त होनेके लिये अर्थात् छूटनेके लिये उदयमें आ रहे हैं। ऐसे उदयमें वापिस तथाप्रकारका कर्मबंधन नहीं

हो - ऐसे वीतरागी पुरुषार्थमें स्वयं प्रगटरूपसे प्रवर्तमान हैं, उसका हूबहू विवरण उक्त वचनामृतोंमें प्रदर्शित हुआ है।

३३९

बंबई, फागुन सुदी १४, १९४८

``ज्योतिषकी आम्नाय सम्बन्धी... बहुतसा, भाग ज्ञात है। तथापि चित्त उसमें जरा भी प्रवेश नहीं कर सकता, और तत्सम्बन्धी पढ़ना व सुनना कदाचित् चमत्कारिक हो, तो भी बोझरूप लगता है। उसमें किंचित् भी रुचि नहीं रही है।

``हमें तो मात्र अपूर्व सत्के ज्ञानमें ही रुचि रहती है। दूसरा जो कुछ किया जाता है या जिसका अनुसरण किया जाता है, वह सब आसपासके बंधनको लेकर किया जाता है ''

``अभी जो कुछ व्यवहार करते हैं, उसमें देह और मनको बाह्य उपयोगमें प्रवृत्त करना पड़ता है। आत्मा उसमें प्रवृत्त नहीं होता। क्वचित् पूर्वकर्मानुसार प्रवृत्त करना पड़ता है, जिससे अत्यन्त आकुलता आ जाती है। जिन कर्मोंका पूर्वमें निबंधन किया गया है; उन कर्मोंसे निवृत्त होनेके लिये, उन्हें भोग लेनेके लिये, अल्पकालमें भोग लेनेके लिये, यह व्यापार नामके व्यावहारिक कामका दूसरेके लिये सेवन करते हैं।''

``...यथाशक्ति मजदूरी जैसा काम भी करनेका रखा है। अब कार्यकी सीमाबहुत बढ़ जानसे निवृत्त होनेकी अत्यन्त बुद्धि हो जाती है।''

``...प्रवृत्ति करते समय हमारी जितनी उदासीन दशा थी, उससे आज विशेष है।''

``... हमारी वृत्तिको परमार्थके कारण अवकाश नहीं है...''

परम कृपालुदेवको ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान काफी मात्रामें होने पर भी और इतना ही नहीं तत्संबंधित कुछ एक बाबत श्री सौभाग्यभाईके पत्रमें आयी होने पर भी स्वयंके चित्तका उसमें ज़रा सा भी प्रवेश नहीं हो सकता हैं, ऐसी सहज दशा हो गई है; तत्संबंधित पढ़ना और सुनना चमत्कारिक होने पर भी उसमें कुतूहलवृत्ति नहीं होती है परन्तु बोझ लगता है। थोड़ी भी उसमें रुचि नहीं रही। रुचि तो केवल अपूर्व ऐसे सत्स्वरूपके ज्ञान सम्बन्धित ही रहती है; क्योंकि वही सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है।

दूसरा जो कुछ भी करनेमें आता है अथवा साथमें काम करनेवालोंका जो अनुसरण करनेमें आता है वह सब व्यवहारिक सम्बन्धके बंधनके कारण किया जाता है। देह और मन द्वारा उपयोगको अनिच्छा होने पर भी बाहर प्रवृत्त करना पड़ता है, फिर भी आत्मा उसमें प्रवृत्त नहीं होता अर्थात् आत्मभावसे आत्माकी प्रवृत्ति नहीं होती। बाह्योपयोगमें मन - परिणाम होने पर भी मन वहाँ लगता नहीं है। उसमें भी सखेद प्रवृत्ति करनी पड़ती है। ऐसी परिस्थितिको देखते हुए पूर्वमें निबंधन किये हुए कर्म निर्जरा हेतु उदयमें आये हो - थोड़े कालमें बहुतसे कर्मका भोगना हो जाय- उस प्रकारसे अर्थात् ज्ञाताभावसे भोगनेमें आते हैं। व्यापारिक प्रवृत्ति भी दूसरेके लिये की जाती हो, ऐसा लगता है।

बाह्य कार्योमें ज्यादा उपयोग नहीं देना पड़े इसलिये हो सके उतना मजदूरी जैसा काम कर लेते हैं। यद्यपि व्यापारिक कार्योंकी (प्रमाण) हद बहुत बढ़ चुकी है। इस वज़हसे भी इससे निवृत्त होनेकी अत्यंत बुद्धि हो जाती है, और विशेष उदासीनता रहती है। पहलेसे इतनी तो उदासीनता बढ़ गयी है कि जैसे मानो वृत्तिको परमार्थके आगे दूसरा अवकाश ही नहीं है। गृहस्थदशामें आराधनाका ऐसा

प्रकार, वीरल ही देखने मिले, ऐसी अबंध परिणामयुक्त वीतरागी आराधनाका यहाँ दर्शन होता है। धन्य आराधना !

३४७

बंबई, फागुन वदी ३०, सोम, १९४८

``यहाँ प्रायः आत्मदशासे सहज समाधि रहती है। बाह्य उपाधिका योग विशेषतः उदयको प्राप्त होनेसे तद्नुसार प्रवृत्ति करनेमें भी स्वस्थ रहना पड़ता है।'

अभी यहाँ हम व्यावहारिक काम तो प्रमाणमें बहुत करते हैं, उसमें मन भी पूरी तरह लगाते हैं, तथापि वह मन व्यवहारमें नहीं जमता, अपनेमें ही लगा रहता है, इसलिये व्यवहार बहुत बोझरूप रहता है।''

हम कि जिनका मन प्रायः क्रोधसे, मानसे, मायासे, लोभसे, हास्यसे, रतिसे, अरतिसे, भयसे, शोकसे, जुगुप्सासे, या शब्द आदि विषयोंसे अप्रतिबद्ध जैसा है; कुटुम्बसे, धनसे, पुत्रसे, `वैभवसे', स्त्रीसे या देहसे मुक्त जैसा है; ऐसे मनको भी सत्संगमें बाँध रखनेकी अत्यधिक इच्छा रहा करती है।''

ज्ञानसम्बन्धी प्रश्नोंके उत्तर (तथा कुछएक व्यावहारिक बातोंके उत्तर) लिखवानेकी आपकी अभिलाषके अनुसार करनेमें प्रतिबन्ध करनेवाली एक चित्तस्थिति हुई है; जिससे ...मन वैसी प्रवृत्ति न कर सका इसलिये (अभी तो इस विषयमें) क्षमा करना योग्य है।''

परमकृपालुदेव आत्मदशामें सहज समाधिभावमें वर्तते हैं। इन दिनों बाह्यमें व्यापार सम्बन्धित उपाधि प्रसंग बढ़ जानेसे उदय कार्योमें प्रवृत्ति करते हुए जागृत रहना पड़ता है। यह जागृति माने स्वरूपस्थ

रहनेका पुरुषार्थ - जिसकी वज़हसे कर्मोंकी निर्जरा जो कि बहुत काल पर्यंत होती, वह अल्पकालमें हो जाती है; और कुछएक सत्तामें रहे कर्मोंकी स्थितिमें अपकर्षण होकर कम हो जाती है। उदयकालके दौरान स्वयं इस प्रकारके पुरुषार्थमें प्रवृत्त होनेसे, पत्र व्यवहार नहीं हो सके, ऐसी चित्तकी स्थिति हो जानेसे अर्थात् मन ऐसी प्रवृत्ति नहीं कर सका इसलिये उन्होंने इस पत्रमें बारम्बार क्षमायाचना की है। क्योंकि जिज्ञासु जीवको ज्ञानसम्बन्धी प्रश्नोंके उत्तर जो कि सामनेवाले जीवके लिये लाभका निमित्त गिना जाता है, वह नहीं बन सका; यद्यपि पारमार्थिक कारणवश ऐसा होनेमें कोई अपराध नहीं है, फिर भी क्षमा माँगनेरूप उनकी लोकोत्तर सज्जनताका यहाँ दर्शन होता है।

व्यावहारिक कार्योमें भी, मन आत्माके प्रति रहता होनेसे, लगता नहीं है। इसलिये उदयमें आ चुके कार्य बहुत बोझरूप लगते हैं। इस विषयमें विस्तारसे कहते हैं कि क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि विभावसे या शब्दादि विषयोंसे मन प्रतिबद्धत्ताको प्राप्त नहीं होता है। इतना ही नहीं पूर्वकर्मसे जिनका उदय है ऐसे कुटुम्ब परिवार, धनादि वैभवसे और देहसे, मन मुक्त सा वर्तता है। धन्य `वीतरागदशा' !

ऐसा होने पर भी उपयोग बाहर जाता है, इसलिये इस उपयोगको सत्संग मिले, ऐसी अत्यधिक इच्छा रहा करती है। वीतरागताके पुरुषार्थ सहित ज्ञानमें अविनाभावीरूपसे इस प्रकारका सहज विवेक धर्मात्माकी दशामें रहता है, इसका भी यहाँपर दर्शन होता है।

३५३

बंबई, चैत्र सुदी १२, शुक्र, १९४८

``समय मात्रके लिये भी अप्रमत्तधाराका विस्मरण न करनेवाला

ऐसा आत्माकार मन वर्तमान समयमें उदयानुसार प्रवृत्ति करता है; और जिस किसी भी प्रकारसे प्रवृत्ति की जाती है, उसका कारण पूर्वमें निबन्धन करनेमें आया हुआ उदय ही है। इस उदयमें प्रीति भी नहीं है, और अप्रीति भी नहीं है। समता है।''

परमकृपालुदेवकी अनेकान्तमयदशाके विस्मयकारी दर्शन यहाँपर होता है। अंतरंगमें आत्माकार परिणति धारावाहीरूपसे - अप्रमत्तधारासे निरन्तर चल रही है, एक समयमात्र भी उसमें विस्मरण या भंग नहीं पड़ता। उस वक्त उपयोग उदयभावरूप प्रवृत्ति करता है, उसमें उनका प्रयत्न नहीं है, सावधानी नहीं है; इसलिये ऐसा होनेमें पूर्व निबंधन किया गया कर्म है, कि जिसके उदयमें प्रीति / राग भी नहीं है और द्वेष भी नहीं है, परन्तु समभाव / ज्ञाताभाव रहता है, जो कि कर्तव्य है।

✣

३५६

बंबई, चैत्र वदी १, बुध, १९४८

``**आत्मसमाधिपूर्वक योग उपाधि रहा करती है; जिस प्रतिबंधके कारण अभी तो कुछ इच्छित काम नहीं किया जा सकता।**''

उन्हें अंतरंगमें आत्मसमाधि वर्तती है, जो कि धर्मात्माकी मुख्य वृत्ति है; और बाहरमें उपाधि योग रहा करता है; जिसमें उपयोगका जितने भी अंशमें झुकना (भावमें भिन्नता रहते हुए) होता है, वह भी एक प्रकारसे उपयोगको अंतर्मुख होनेमें प्रतिबंध होनेसे, केवल अंतर्मुख योगमें रहनेकी इच्छा होने पर भी रहा नहीं जाता। अतः श्री ऋषभादि ज्ञानियोंने अप्रतिम पुरुषार्थ करके शरीरादि प्रवर्तनाके भानका भी त्याग किया था - ऐसे अभिप्रायमें और अभिलाषामें स्वयं वर्तते हैं।

परिणमनकी वर्तमान स्थिति पर कृपालुदेवकी अत्यंत गहन विचाराणा का यहाँपर दर्शन होता है।

✣

३५७

बंबई, चैत्र वदी ५, रवि, १९४८

``**सत्संग होनेके प्रसंगकी इच्छा करते हैं, परन्तु उपाधियोगके उदयका भी वेदन किये बिना उपाय नहीं है। चित्त बहुत बार आपमें (हृदयरूप श्री सौभाग्य) रहा करता है। जगतमें दूसरे पदार्थ तो हमारे लिये कुछ भी रुचिकर नहीं रहे हैं। जो कुछ रुचि रही है वह मात्र एक सत्यका ध्यान करनेवाले सन्तमें, जिसमें आत्माका वर्णन है ऐसे सत्शास्त्रमें, और परेच्छासे परमार्थके निमित्तकारण ऐसे दान आदिमें रही है। आत्मा तो कृतार्थ प्रतीत होता है।**''

इस पत्रमें कृपालुदेवने मुख्यतया अपनी रुचिका वर्णन किया है। उपाधियोगमें भी सत्संगके योग्य ऐसे श्री सौभाग्यभाईके प्रति उनका चित्त रहा करता है; उनके अलावा जगतके किसी भी पदार्थके प्रति रुचिका कोई कारण नहीं है; क्योंकि जगतके समस्त पदार्थ ज्ञानसे शून्य ऐसे मात्र ज्ञेयरूप भासित होते हैं। जो कुछ रुचि है वह सत्‌के आराधक संतके प्रति, स्वयंकी रुचि है ऐसा आत्मस्वरूप गाया है, ऐसे सत्‌शास्त्रके प्रति, और अकर्ताभावसे उत्पन्न होनेवाले परमार्थ - निमित्तक ऐसे दानादिके प्रति रही है। रुचिके इस प्रकारमें बाह्य परिणामोंके समय भी अंतरंग रुचि / श्रद्धाका विषय `आत्मा' तो पूर्ण कृतकृत्य है, ऐसा रहता है। यानी कि सम्यक्‌दर्शनका विषयभूत आत्मस्वरूप तो त्रिकाल परिपूर्ण और कृतकृत्य है । मोक्षमार्गमें अंतर-बाह्य श्रद्धाका यथार्थ परिणमन इस प्रकारका होता है, इसका यहाँ पर दर्शन होता है।

✣

३६१

बंबई, वैशाख सुदी ३, शुक्र (अक्षय तृतिया), १९४८

``**भावसमाधि है। बाह्य उपाधि है; जो भाव - समाधिको गौण कर सके ऐसी स्थितिवाली है; फिर भी समाधि रहती है।**''

कृपालुदेवका अध्यात्मभाव समाधिमय चल रहा है। बाह्यमें अध्यात्मभावको गौण करा दे ऐसी तीव्र उपाधि होने पर भी, समाधिभाव गौण नहीं होता परन्तु मुख्यरूपसे वर्तता है। ऐसी पवित्र समाधिदशा सचमुच वंदनीय है !

यहाँ पर भावसमाधि अर्थात् समभावरूप परिणाम कि जिसके कारण परिणाममें विषमता एवम् असमाधान उत्पन्न नहीं होते।

३६२

बंबई, वैशाख सुदी ४, शनि, १९४८

``**जिसे सच्चा आत्मभान होता है उसे, मैं अन्य भावका अकर्त्ता हूँ, ऐसा बोध उत्पन्न होता है और उसकी अहंप्रत्ययी बुद्धि विलीन हो जाती है।**

ऐसा आत्मभान उज्जवलरूपसे निरंतर रहा करता है, तथापि जैसा चाहते हैं वैसा तो नहीं है। यहाँ समाधि है।''

इस पत्रमें, प्रवर्तमान ऐसे उज्जवल आत्मभानकी, स्पष्टतापूर्वक विद्यमानता प्रकाशित की है। आत्मामें आत्मत्व और अन्यत्र कहीं भी आत्मत्व नहीं - ऐसा भान रहता है इसलिये अन्यभावका कर्तृत्व या अन्यभावके प्रति अहंप्रत्ययीबुद्धि विलयको प्राप्त होती है। अपूर्व ऐसा आत्मभान प्रगट होने पर भी पूर्ण शुद्ध दशा नहीं होनेसे उसमें संतोष नहीं होता है; फिर भी उस विषयमें असमाधान नहीं है अर्थात् समाधान वर्तता है।

मुमुक्षुजीवको ज्ञानीपुरुषकी ऐसी आभ्यंतरदशाका स्वरूप पहचानने जैसा है। `अनुभव पद्धतिसे' पहचानने पर उसकी प्रतीत आती है, जिसका फल बहुत बड़ा है।

३६३

बंबई, वैशाख सुदी ५, रवि, १९४८

``**अभी तो अनुक्रमसे उपाधियोग विशेष रहा करता है। .... व्यवहारके प्रसंगमें धीरज रखना योग्य है। इस बातका विसर्जन नहीं होता हो, ऐसी धारणा रहा करती है।**'

``**...वनमें उदासीनतासे स्थित जो योगी - तीर्थंकर आदि हैं उनके आत्मत्वकी याद आती है।**''

कृपालुदेवको व्यापारकी उपाधि इन दिनों विशेषरूपसे रहा करती है, फिर भी `धीरजसे सर्व प्रसंगोंमें रहना' इत बातका विसर्जन नहीं होता; ऐसा निज परिणामोंका अवलोकन होता है, उसे यहाँ प्रदर्शित किया है। ऐसे तीव्र उपाधियोगमें तन्मय होनेके बज़ाय कृपालुदेवको वनमें उदासीनरूपसे स्थित ऐसे तीर्थंकरादिक महान् योगियोंके आत्मामें अवस्थित आत्मत्व स्मरणमें आता है अर्थात् स्वयंको भी वर्तमान संयोगोंके प्रति वैसा ही उदासीनभाव होनेकी स्फुरणा रहा करती है।

`भोगके कालमें योगका स्मरण आना यह हलुकर्मी जीवका लक्षण है।' इस उक्तिके अनुसार कृपालुदेवकी दशाका अंदाज़ आने पर उनके प्रति मस्तक झुक जाता है।

३६५

बंबई, वैशाख सुदी ११, १९४८

``**जिसे आत्मत्वका ध्येय नहीं है, उसके लिये यह बात** (**मिस्मिरेजम, चमत्कार, इत्यादि**) **उपयोगी है; हमें तो उसके प्रति कुछ ध्यान देकर समझानेकी इच्छा नहीं होती अर्थात् चित्त ऐसे विषयकी इच्छा नहीं करता।**''

यहाँ समाधि है। बाह्य प्रतिबद्धता रहती है।''

कृपालुदेवको बाह्य चमत्कारों सम्बन्धित विद्याका अमुक अंशमें ज्ञान था। परन्तु यह विषय ज्ञानदृष्टिसे अनर्थकारक है; इतना ही नहीं उसमें मोहबुद्धिसे आकर्षित होना वह तो दुर्गतिका कारण है। जिन्हें आत्महितका ध्येय नहीं है ऐसे अज्ञानी जीवोंको ही यह बात महत्तापूर्ण व उपयोगी लगती है। कृपालुदेव तो ऐसे विषयको कुछ अंशमें जानते हुए भी उसके प्रति थोड़ा भी लक्ष्य देकर समझाना नहीं चाहते, अर्थात् उनके चित्तमें ऐसे विषयका ज़रा भी अवकाश नहीं है। अंतरपरिणतिमें समाधि वर्तती है, जब कि बाह्य उपयोगमें मोक्षमार्गको अनुकूल नहीं ऐसी प्रतिबद्धता वर्तती है।

३६६

बंबई, वैशाख सुदी १२, रवि, १९४८

``**मनमें वारंवार विचार करनेसे निश्चय हो रहा है कि किसी भी प्रकारसे उपयोग फिर कर अन्यभावमें ममत्व नहीं होता और अखण्ड आत्मध्यान रहा करता है, ऐसी दशामें विकट उपाधियोगका उदय आश्चर्यकारक है। अभी तो थोड़े क्षणोंकी निवृत्ति मुश्किलसे रहती है और प्रवृत्ति कर सकनेकी योग्यतावाला तो चित्त नहीं है और अभी वैसी प्रवृत्ति करना कर्तव्य है, तो उदासीनतासे ऐसा करते**

हैं; मन कहीं भी नहीं लगता, और कुछ भी अच्छा नहीं लगता, तथापि अभी हरीच्छाके अधीन हैं।... `वनकी मारी कोयल' की कहावतके अनुसार इस कालमें और इस प्रवृत्तिमें हम हैं।''

आभ्यंतर-दशाका हूबहू बयान करते हुए कृपालुदेव लिखतें हैं कि हमें अखण्ड आत्मध्यान रहा करता है। जिनकी ऐसी दशा हो उन्हें बाहरमें सहजरूपसे निवृत्तियोग ही होता है, बज़ाय इसके कृपालुदेवको विकट उपाधियोगका उदय है; यह आश्चर्यकारक है, अर्थात् स्वाभाविकरूपसे देखें तो यह सुसंगत नहीं है। इन दिनों तो प्रवृत्ति और कार्योंका दबाव इतना वृद्धिगत हो गया है कि थोड़े क्षणोंकी निवृत्ति मुश्किलसे मिलती है। प्रवृत्ति कर सके ऐसी चित्तकी योग्यता नहीं है फिर भी जैसे कमज़ोर प्राणीको चाबुक मारकर ज़बरदस्ती काम करवाया जाता है, वैसे वे (व्यवहारसे कर्तव्य जानकर) प्रवृत्ति करते हैं - ऐसेमें अपेक्षावृत्ति तो कहाँसे होगी ? अत्यंत उदासभावसे प्रवृत्ति की जाती हैं। परन्तु मन किसी भी प्रवृत्तिमें लगता नहीं और कुछ सुहाता भी नहीं है; फिर भी ज्ञानदृष्टिसे समाधान रखते हैं।

अपने परिणामकी दशाका अधिक स्पष्ट खयाल देते हुए लिखते हैं कि जैसे कोयल एक वनपक्षी है, वनमें ही रहनेका आदी है; वनका पक्षी शहरमें नहीं रह सकता, फिर भी उसे वनमेंसे मार-भगाकर निकाला जाय तो वह शहरमें आता है, ऐसी उनकी स्थिति इत प्रवृत्तिकालमें है। ऐसी स्थितिमें भी आपको तीर्थंकरादि महापुरुषोंके अनुपम आत्मध्यानका स्मरण होता है। तीर्थंकरादिक विचरते थें वह तो धर्मकाल था, इसकी अपेक्षासे वर्तमान काल अत्यंत दुषमकाल है, उसमें भी आश्चर्यकारक ऐसा एकावतारीपना जिन्होंने साधा और

आराधन किया उन्हें परम भक्तिसे नमस्कार हो ! नमस्कार हो !!

✳

३६८

बंबई, वैशाख वदी ६, मंगल, १९४८

``हममें विद्यमान परम वैराग्य व्यवहारमें कभी भी मनको लगने नहीं देता, और व्यवहारका प्रतिबंध तो सारे दिनभर रखना ही पड़ता है। अभी तो उदयकी ऐसी स्थिति है, इससे संभव होता है कि वह भी सुखका हेतु है। ... मोक्ष तो हमें सर्वथा निकटरूपसे रहता है, यह तो निःशंक बात है। हमारा चित्त आत्माके सिवाय किसी अन्य स्थल पर प्रतिबद्ध नहीं होता, क्षणभरके लिये भी अन्यभावमें स्थिर नहीं होता, स्वरूपमें स्थिर रहता है। ऐसा जो हमारा आश्चर्यकारक स्वरूप है उसे अभी तो कहीं भी कहा नहीं जाता।''

परमकृपालुदेवको अनिच्छासे भी सारा दिन व्यवहारका प्रतिबंध रखना पड़ता है, फिर भी परम वैराग्य रहता होनेसे व्यावहारिक कार्यमें कभी भी मन नहीं लगता, अर्थात् वैराग्यके कारण कोई भी काम मन लगाकर नहीं कर सकते। फिर भी उदयकी स्थिति और स्वयंका पुरुषार्थ जिस प्रकारसे प्रवर्तता है, यह देखते हुए ऐसा संभव होता है कि यह परिणामतः सुखका हेतु है। अर्थात् पूर्वमें निबंधन किये गये कर्मकी उदय द्वारा निर्जरा होकर, नये बंधके हेतुका अभाव होनेसे फलस्वरूप सुखका कारण दिखता है।

अपने चित्तकी स्वरूप - स्थिरताका अवलोकन करके कृपालुदेव निःशंकरूपसे लिखते हैं कि मोक्ष तो हमें निकटरूपसे वर्तता है, यह बात निःसंदेह है। क्योंकि क्षणभरके लिये भी अन्यभावमें हमारा चित्त प्रतिबद्धताको प्राप्त नहीं होता परन्तु चित्त आश्चर्यकारकरूपसे

सहज ही आत्मामें स्थिर रहता है। इसे हृदयरूप श्री सौभाग्यभाईके अलावा कहीं भी कहा जाय ऐसा पात्र नहीं दिखता।

उक्त वचनामृतमें कृपालुदेवके निर्मल श्रुतज्ञानमें एवं वर्तमान आश्चर्यकारी परिणमनके प्रकारका अनुभव वर्तता होनेसे, निकटमें ही मोक्षदशा प्रतिभासित होती है। अहो ! यह कैसा अद्भुत परिणमन होगा !! सिर्फ डेढ़ सालकी साधकदशामें ही ऐसी आश्चर्यकारी दशा जहाँ हो, वहाँ मोक्ष निकट ही होवे, यह सहज ही समझ सके ऐसा है।

✳

३७०

बंबई, वैशाख वदी ११, रवि, १९४८

``अविच्छिनरूपसे जिन्हें आत्मध्यान रहता है, ऐसे श्री.... जिसमें अनेक प्रकारकी प्रवृत्ति रहती है ऐसे योगमें अभी तो रहते हैं। उसमें आत्मस्थिति उत्कृष्टरूपसे विद्यमान देखकर श्री... के चित्तको अपने आपसे नमस्कार करते हैं। बहुत प्रकारसे समागमकी और बाह्य प्रवृत्तिके योगत्यागकी जिनकी चित्तवृत्ति किसी प्रकारसे भी रहती है ऐसे हम अभी तो इतना लिखकर रुक जाते हैं।''

आपको अविच्छिन्नरूपसे आत्मध्यान वर्तता है। साथ ही साथ बाह्य संयोगोंकी बहुत प्रकारसे प्रवृत्ति भी रहती है। इन प्रवृत्तियोंके बीच भी आत्मस्थिति आत्मामें उत्कृष्टरूपसे सहज वर्तती हुई देखकर, खुद ही स्वयंकी आराधनाको भावनमस्कार करते हैं। बाह्यदृष्टिसे तो ऐसी अद्भुत पवित्र साधकदशाका अंदाज लगाना भी साधारण जीवको मुश्किल पड़े, ऐसी गुप्त तथापि असाधारण मुक्त दशाको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो ! वचनातीत दशा सम्बन्धित अभी ज्यादा लिख सके, ऐसा नहीं है।

✳

३७५

बंबई, वैशाख, १९४८

``यथाप्रारब्ध स्थिति है इसलिये बलवान उपाधियोगमें विषमता नहीं आती। अत्यंत ऊब जानेपर भी उपशमका, समाधिका यथारूप रहना होता है; तथापि चित्तमें निरन्तर सत्संगकी भावना रहा करती है। सत्संगका अत्यंत माहात्म्य पूर्व भवमें वेदन किया है, वह पुनः पुनः स्मृतिमें आता है और निरन्तर अभंगरूपसे वह भावना स्फुरित रहा करती है। जब तक इस उपाधियोगका उदय है तब तक समतासे उसका निर्वाह करना, ऐसा प्रारब्ध है; तथापि जो काल व्यतीत होता है वह उसके त्यागके भावमें प्रायः बीता करता है।''

यथाप्रारब्ध स्थिति है। उसमें - प्रारब्ध विषयमें - असमाधान नहीं वर्तता। अतः बलवान उपाधियोग होने पर भी परिणाममें विषमता उत्पन्न नहीं होती। यद्यपि प्रवृत्तिमें रहते हुए अत्यंत अरुचि हो जाती है; तथापि उपशमका और समाधिका यथायोग्यरूपसे रहना सहज होता है। इस परिस्थितिमें सत्संगकी भावना रहा करती है। क्योंकि पूर्वभवमें सत्संगका अत्यंत माहात्म्य अनुभवगोचर हुआ है। (पूर्वभव सम्बन्धित यह बात जातिस्मरणसे लिखी गई हो ऐसा लगता है।) उसका बारम्बार स्मरण आता है। और वह सत्संगकी भावना निरंतर-अभंगरूपसे स्फुरित रहा करती है। और जो समय बिना सत्संग व्यतीत होता है, उसमें व्यवसायके व्यवहारका त्याग करनेका भाव आता रहता है।

इस पत्रमें अंतरंगमें बलवान अध्यात्मदशा होनेके साथ-साथ बाह्यमें सत्संग और असत्संगके प्रति, मोक्षमार्गमें परिणामका विवेक किस प्रकारका होता है, उसका दर्शन होता है।

३७६

बंबई, वैशाख वदी, १९४८

``अभी जिस प्रवृत्तियोगमें रहते हैं वह तो बहुत प्रकारकी परेच्छाके कारणसे रहते हैं। आत्मदृष्टिकी अखण्डता उस प्रवृत्तियोगसे बाधाको प्राप्त नहीं होती। इसलिये उदयमें आये हुए योगकी आराधना करते हैं। ...निवृत्तिको, समागमको अनेक प्रकारसे चाहते हैं, क्योंकि इस प्रकारका जो हमारा राग है उसे हमने सर्वथा निवृत्त नहीं किया है।''

अभी जो प्रवृत्तियोगमें रहना हुआ है वह स्वेच्छासे नहीं हुआ, परन्तु दूसरोंकी अनेक प्रकारकी इच्छाओंके कारण रहना पड़ता है। फिर भी उस प्रवृत्तियोगसे, आत्मदृष्टिकी अखण्डता बाधाको प्राप्त नहीं होती। पूर्वकर्मके कारण उदयमें आये हुए इस प्रवृत्तियोगका सम्यक्प्रकारसे वेदन होता है, अर्थात् आराधनामें रहते हुए, आराधनापूर्वक वेदन होता है और वह पूर्वकर्मकी निर्जराका कारण बनता है। इतना अवश्य है कि इस प्रवृत्तियोगके कारण अन्य जिज्ञासु जीवोंको कल्याण प्राप्त होनेमें वियोग हो, उस प्रकारसे रहना होता है। इतना ही नहीं प्रवृत्तिकी रुचि नहीं होनेसे और सत्संगमें रुचि होनेसे निवृत्ति और सत्संगको चाहते हैं। वर्तमान दशामें तथाप्रकारका सत्संग सम्बन्धित राग वह सर्वथा निवृत्त नहीं हुआ। सत्संगको उपकारी गिनते हैं।

कलीकालके योग्य विषम परिस्थितिमें भी कृपालुदेवको अविषमरूपसे आत्मध्यान वर्तता है, यह स्थिति वास्तवमें वंदनीय है! स्वयं भी स्वयंको नमस्कार करके यह पत्र समाप्त करते हैं। मुमुक्षुजीवको तो जिन्हें अविषमरूपसे आत्मध्यान रहा करता हो, ऐसे महात्माके चरणारविंद पुनः-पुनः स्मरणमें आकर, अत्यंत भक्तिभावसे

नमस्कारका भाव अवश्य आता है।

❋

३७९

बंबई, जेठ वदी ३०, शुक्र, १९४८

``उपाधियोगकी अधिकता रहती है। बलवान क्लेश जैसा उपाधियोग देनेकी `हरीच्छा' होगी, अब इस स्थितिमें वह जैसे उदयमें आये वैसे वेदन करना योग्य समझते हैं। संसारसे कंटाले हुए तो बहुत समय हो गया है, तथापि संसारका प्रसंग अभी विरामको प्राप्त नहीं होता; यह एक प्रकारका बड़ा `क्लेश' रहता है। आपके (श्री सौभाग्यभाईके) सत्संगकी अत्यंत रुचि रहती है, तथापि उस प्रसंगकी प्राप्ति अभी तो `निर्बल' होकर श्री `हरि' को सौंपते हैं। हमें तो कुछ करनेकी बुद्धि नहीं होती, और लिखनेकी बुद्धि नहीं होती। कुछ कुछ वाणीसे प्रवृत्ति करते हैं, उसकी भी बुद्धि नहीं होती; मात्र आत्मरूप मौनस्थिति और उस सम्बन्धि प्रसंग, इस विषयमें बुद्धि रहती है। ...`बुद्धि तो मोक्षके विषयमें भी स्पृहावाली नहीं है।''

परम कृपालुदेवको वर्तमान बाह्य परिस्थिति अधिक उपाधियुक्त है। बलवान क्लेश उत्पन्न होवे, ऐसा उपाधियोग पूर्वकर्मके कारण है, और उस उदयको सम्यक्प्रकारसे समाधानपूर्वक भिन्न रहकर वेदन करना उचित जानते हैं। बहुत समय पहले संसारसे तो कंटाला आ गया है फिर भी संसारका प्रसंग चालू रहता है, और विरामको प्राप्त नहीं होता; वह अरुचिका प्रसंग होनेसे और उसका आदर नहीं होनेसे, (तथापि उसके प्रति उक्त प्रकारसे समाधान होनेसे) संसारी जीवसे विलक्षण प्रकारका क्लेश भाव वर्तता है। अर्थात् अरुचिकर विषयके प्रति जैसा अज्ञान अवस्थामें द्वेष उत्पन्न होता है, वैसा क्लेशभाव

नहीं वर्तता। परन्तु स्वरूपआश्रित पुरुषार्थमें उसका सहज निषेध आ जाता है, ऐसा समझने योग्य है।

श्री सौभाग्यभाईके सत्संगकी रुचि होने पर भी उसमें कर्तृत्व नहीं होनेसे उस प्रसंगको कुदरत अधीन समझकर, समाधान रहता है। मुख्यरूपसे ज्ञाताभावरूप वर्तना होनेसे कुछ करने सम्बन्धित, यानी कि संयोगिक फेरफारकी प्रवृत्ति करने सम्बन्धित बुद्धि नहीं होती। लिखनेका भी मन नहीं होता। प्रवृत्ति कुछ अंशमें होती है, फिर भी बोलनेका अभिप्राय नहीं है। सिर्फ आत्मारूप होकर, मौनस्थिति बनी रहे - वैसा अभिप्राय रहता है।

उनकी दृष्टिके कब्ज़ेमें परिपूर्ण गुणनिधान परम तत्त्व होनेसे, भावि मोक्षपर्यायकी भी स्पृहायुक्त बुद्धि नहीं होती - ऐसी एक अलौकिक परितृप्ति वर्तती है।

❋

३८५

बंबई, आषाढ़, १९४८

``यद्यपि हमारा चित्त नेत्र जैसा है, नेत्रमें दूसरे अवयवों की भाँति एक रजकण भी सहन नहीं हो सकता। दूसरे अवयवोंरूप अन्य चित्त है। हमारा जो चित्त है वह नेत्ररूप है, उसमें वाणीका उठना, समझाना, यह करना, अथवा यह न करना, ऐसा विचार करना बहुत मुश्किलसे होता है। बहुतसी क्रियाएँ तो शून्यताकी भाँति होती हैं, ऐसी स्थिति होनेपर भी उपाधियोगको तो बलपूर्वक आराधते हैं। यह वेदन करना कम विकट नहीं लगता, कारण कि आँखसे जमीनकी रेती उठाने जैसा यह कार्य है। वह जैसे दुःखसे - अत्यंत दुःखसे - होना विकट है, वैसे चित्तको उपाधि उस परिणामरूप होनेके समान है। सुगमतासे स्थित चित्त होनेसे वेदनाको सम्यक्प्रकारसे

भोगता है, अखण्ड समाधिरूपसे भोगता है।''

इस पत्रमें कृपालुदेवने स्वयंके परिणमनके सूक्ष्म (दोनों) पहलूकी स्पष्टता की है, जो कि मुमुक्षुजीवके लिये स्वयं बोधस्वरूप है। यथाः एक ओरसे हमारा चित्त नेत्र जैसा है, अर्थात् नेत्रकी माफिक सिर्फ जाननेरूप ज्ञाताभावसे परिणाम वर्तते हैं। अतः ऐसी स्थितिमें बोलना, समझाना या कुछ करना, न करना ऐसी विचारणा मुश्किलसे हो सकती है। प्रायः उदय-क्रिया तो शून्यताकी भाँति अर्थात् शून्य उपयोगसे - असावधानीमें हुआ करती हैं। तथापि बलवान उपाधियोगका समाधिभावसे वेदन होता है - भिन्न रहकर सम्यक्प्रकारसे वेदन होता है। दूसरी ओर ऊपर-ऊपरसे उपयोग देना पड़ता है, जो अभिप्राय और पुरुषार्थ विरुद्ध प्रवृत्ति होनेसे बहुत विकट लगता है। यह विकटता दर्शाते हुए, जैसे आँखसे जमीनकी रेती उठानेका कार्य होना अत्यंत विकट है, ऐसा लगता है। जो चित्त राग करनेके लिये अशक्त है, उस चित्तको उपाधिका वेदन करना असह्य हो गया है, अर्थात् उदयभावमें रहते हुए असह्य वेदना होती है। इसी परिणामका अंतरंग दूसरा पहलू ऐसा भी है कि चित्त स्थिरता अच्छी होनेसे उक्त वेदनाको भी वे सम्यक्प्रकारसे भोगते हैं, अखण्ड समाधिभावसे भोगते हैं।

ज्ञानीपुरुषकी ऐसी अंतरंग दशाकी अभिव्यक्ति - अंतरमें भेदज्ञान (भिन्नता) का प्रयोग कर रहे आत्मार्थीजीवको, आत्मार्थ समझनेमें, - विशेष उपकारी होवे, ऐसा है।

३८७

बंबई, श्रावण सुदी, १९४८

``यहाँ हमें भी उपाधियोग रहता है; अन्य भावमें यद्यपि आत्मभाव उत्पन्न नहीं होता और यही मुख्य समाधि हैं।''

आपको व्यावसायिक प्रवृत्तिमें जुड़ना पड़ता है वह उदयभावरूप अन्यभाव है। वैसे अन्यभावमें आत्मभाव उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् उन-उन भावोंमें आत्मभावसे - तन्मयभावसे प्रवर्तन नहीं होता; सहज भिन्न रहा जाता है; ऐसी जो स्वरूप-परिणति है वह मुख्य है, और वह समाधिभावरूप है। यह ज्ञानदशाका स्पष्ट चित्र है।

३९६

बंबई, श्रावण वदी, १९४८

``अन-अवकाश आत्मस्वरूप रहता है; जिसमें प्रारब्धोदयके सिवाय दूसरा कोई अवकाश योग नहीं है। उस उदयमें क्वचित् परमार्थभाषा कहनेका योग उदयमें आता है, क्वचित् परमार्थभाषा लिखनेका योग उदयमें आता है, और क्वचित् परमार्थभाषा समझानेका योग उदयमें आता है। अभी तो वैश्यदशाका योग विशेषरूपसे उदयमें रहता है। और जो कुछ उदयमें नहीं आता उसे कर सकनेकी अभी तो असमर्थता है। जीवितव्यको मात्र उदयाधीन करनेसे, होनेसे विषमता मिटी है।''

``...पूर्वोपार्जित स्वाभाविक उदयके अनुसार देहस्थिति है; आत्मरूपसे उसका अवकाश अत्यन्ताभावरूप है।''

कृपालुदेवको आत्मामें अनवकाशरूपसे (धारावाहीरूपसे, अखंडरूपसे) आत्मस्वरूप प्रगटरूपसे वर्तता है। उसकी बलवत्तरता इतनी है कि प्रारब्धउदयकी मर्यादामें ही बाह्यभाव होते हैं, इससे अधिक कुछ करनेकी शक्ति ही नहीं है; अर्थात् बाह्य कार्य करनेमें परिणामकी असमर्थता महसूस होती है। प्राप्त उदय-कार्यको छोड़कर, अन्य विकल्प होनेका अवकाश नहीं है।

उदयमें कभी कभार परमार्थ विषयक भाषा कहनेरूप, लिखनेरूप

या समझानेरूप उदययोग उत्पन्न होता है। विशेषरूपसे तो व्यापारदशारूप योग अभी उदयमें वर्तता है, उस बाबतमें जैसा पूर्वकर्मका उदय आये, तत्संबंधी विशेष विकल्प नहीं करके, उदय अनुसार जीवितव्य रखना और उसमें समभावसे प्रवर्तन होता है। ऐसा होनेसे सहजरूपसे विषमता मिटी है। देहस्थिति पूर्वकर्मके उदय अनुसार स्वाभाविकरूपसे है, वह पररूप मालूम पड़ती है, स्वपनेका उसमें बिलकुल अनुभव नहीं होता। देहमें आत्मत्व भासित होनेका अवकाश ही नहीं है; - इसप्रकारसे आत्मभाव वर्तता है। धन्य दशा !

३९८

बंबई, श्रावण वदी १४, रवि, १९४८

``आत्माकारस्थिति और उपाधियोगरूप कारणसे मात्र उन पत्रोंकी पहुँच लिखी जा सकी है।'

...अभी जो उपाधियोग प्राप्त हो रहा है, यदि उस योगका प्रतिबन्ध त्यागनेका विचार करें तो वैसा हो सकता है; तथापि उस उपाधियोगको भोगनेसे जो प्रारब्ध निवृत्त होनेवाला है, उसे उसी प्रकारसे भोगनेके सिवाय दूसरी इच्छा नहीं होती; इसलिये उसी योगसे उस प्रारब्धको निवृत्त होने देना योग्य है, ऐसा समझते हैं, और वैसी स्थिति है।''

...आत्माकार स्थिति हो जानेसे चित्त प्रायः एक अंश भी उपाधियोगका वेदन करने योग्य नहीं है, तथापि वह तो जिस प्रकारसे वेदन करना प्राप्त हो उसी प्रकारसे वेदना करना है, इसलिये उसमें समाधि है। परन्तु किन्हीं जीवोंसे परमार्थ सम्बन्धी प्रसंग आता है उन्हें उस उपाधियोगके कारणसे हमारी अनुकम्पाके अनुसार लाभ नहीं मिलता। `दूसरे मुमुक्षु जीवोंको इच्छित अनुकम्पासे परमार्थवृत्ति

दी नहीं जा सकती, यह भी बहुत बार चित्तको खलता है।''

परमकृपालुदेवको अंतर उपादानमें आत्माकार स्थिति और निमित्तरूपसे उपाधियोग - ऐसे परस्पर दो विरुद्ध कारण प्राप्त हैं। जिसके कारण विस्तारसे पत्रोत्तर लिख नहीं पाये, सिर्फ पहुँच लिखी जा सकी है।

उन्हें उपाधियोग प्राप्तरूपसे वर्तता है। उस बाबतमें अपने विचार और निर्णय दर्शाते हुए लिखते हैं कि, इस योगके प्रतिबंधका त्याग करनेका विचार किया जाय तो उसका त्याग कर सकते हैं। त्याग करने पर स्वयंको आर्तध्यान होवे ऐसा भी नहीं है। तथापि उस उपाधियोगका सम्यक् प्रकारसे वेदन करने पर, पूर्वकर्मकी निवृत्ति विशेषरूपसे और विशेष अनुपातमें होनेकी परिस्थिति होनेसे, उसी प्रकार वेदन करनेके अलावा, दूसरी इच्छा नहीं रहती। पूर्वकर्म उदयमें आये और उसवक्त आत्मभावमें रहा जाय - उस प्रकारसे उसकी निवृत्ति होने दें, यह उचित है, - ऐसा जानकर वे ऐसी स्थितिमें रहे हैं।

चित्तकी स्थिति आत्माकारदशारूप हो जानेसे, ऐसा चित्त थोड़ा भी उपाधिभावका बोझ उठा सके, ऐसी स्थितिमें नहीं है। तथापि उदययोगमें जो-जो उपाधि आ जाती हैं, उसका भिन्न रहकर, आत्मामें आत्मभावसे रहकर - अनुभव करना, यह समाधि है। अर्थात् उपाधि आ जाने पर असमाधान नहीं होता और आर्तध्यान भी नहीं होता। परन्तु दूसरे जीवोंको परमार्थ संबंधी प्रसंग पड़ने पर, स्वयंके उपाधियोगके कारण उनकी इच्छित अनुकम्पा अनुसार लाभ नहीं मिल पाता है या कारुण्यवृत्ति होने पर भी उन्हें परमार्थवृत्ति नहीं दे सकते हैं, यानी कि दूसरे मुमुक्षु-जीवोंको आत्मकल्याणमें निमित्त होनेरूप सहयोग नहीं दे सकते हैं, तत्संबंधित कईबार चित्तमें खेद

होता है, वह इसप्रकारसे कि, उदयकी विचित्र परिस्थिति दूसरे जीवको परमार्थवृत्ति प्राप्त होनेमें अंतराय होता है; यह चित्तको बहुत खलता है।

परमार्थके कारणके विषयमें उनकी परम कारुण्यवृत्तिका यहाँ दर्शन होता है।

४००

बंबई, श्रावण वदी, १९४८

``**जबसे इस उपाधियोगका आराधन करते हैं, तबसे चित्तमें जैसी मुक्तता रहती है वैसी मुक्तता अनुपाधिप्रसंगमें भी नहीं रहती थी; ऐसी निश्चलदशा मगसिर सुदी ६से एक धारासे चली आ रही है।**''

इस पत्रमें स्पष्ट उल्लेख है कि, अंतिम आठ माससे आत्मदशा मुक्तरूप से वर्त रही है। अर्थात् उदयकालमें भी स्वयंका आराधकभाव विशेष अंतर्मुख पुरुषार्थमय रहता है, अत: उदयसे अत्यंत भिन्नता वर्तती है। अध्यात्मदशाकी ऐसी तीव्रता अनुपाधि प्रसंगमें भी नहीं वर्तती थी ऐसी धारावाही दशा वर्त रही है। ऐसे आराधनावंत महापुरुषको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका प्रतिबंध नहीं होता। ये पुरुष नमन करने योग्य हैं, कीर्तन करने योग्य है, परम प्रेमसे गुणग्राम करने योग्य है और पुन: पुन: विशिष्ट आत्मभाव से ध्यान करने योग्य है कि जिन्हें निवृत्तिकालसे भी प्रवृत्तिकालमें, (जो कि व्यवहारसे प्रतिकूल गिना जाता है किन्तु पुरुषार्थसे जिन्होंने प्रतिकूलता को अनुकूलतामें बदल दी है), विशेष आराधना सहज वृद्धिगत हो जाती है।

४०२

बंबई, भादों सुदी ७, सोम, १९४८

``**किसी भी जीवके प्रति किसी भी प्रकारसे किसी भी कालमें अत्यन्त अल्प मात्र दोष करना योग्य नहीं है, ऐसी बातका जिसमें परमोत्कृष्टरूपसे निर्धार हुआ है, ऐसे इस चित्तको नमस्कार करते हैं,`...आपने (श्री सौभाग्यभाईने) व्यवहार प्रसंगके विवरण सम्बन्धी पत्र लिखा था, उस विवरणको चित्तमें उतारने और विचारनेकी इच्छा थी, तथापि वह चित्तके आत्माकार होनेसे निष्फल हो गयी है।**''

अनन्त करुणासे जिनका हृदय भीगा हुआ है, ऐसे कारुण्यमूर्ति कृपालुदेव यहाँ लिखते हैं कि, एकन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत किसी भी जीवके प्रति, किसी भी प्रकारसे, किसी भी कालमें, अत्यंत अल्प दोष भी करने योग्य नहीं है; इस विचारका जिन्होंने सर्वोत्कृष्टरूपसे निर्धार किया है अर्थात् सर्व जीवोंके प्रति परम निर्दोषभावसे रहनेकी भावनामें स्वयं भावान्वित हैं। इसप्रकारके बाह्य परिणमनके दौरान अंतरंग परिणमनमें आत्माकारपना रहता होनेसे श्री सौभाग्यभाई द्वारा लिखित व्यवहार प्रसंगके बारेमें सोचनेकी इच्छा होने पर भी उस विचारमें चित्तका प्रवेश नहीं हो सका। उन्हें आत्मपरिणतिकी सहज बलवत्तरता और मुख्यता इतनी रहती है कि जिसके कारण इच्छा अनुसार बाह्यप्रसंगमें परिणमन नहीं हो सकता अर्थात् प्रवर्तन नहीं हो सकता।

४०८

बंबई, भादों वदी ८, बुध, १९४८

``**जिस जिस कालमें जो जो प्रारब्ध उदयमें आता है उसे भोगना, यही ज्ञानीपुरुषोंका सनातन आचरण है, और यह आचरण**

हमें उदयरूपसे रहता है; अर्थात् जिस संसारमें स्नेह नहीं रहा, उस संसारके कार्यकी प्रवृत्तिका उदय है, और उदयका अनुक्रमसे वेदन हुआ करता है। इस उदयके क्रममें किसी भी प्रकारकी हानि-वृद्धि करनेकी इच्छा उत्पन्न नहीं होती; और ऐसा जानते हैं कि ज्ञानीपुरुषोंका भी यह सनातन आचरण है; तथापि जिसमें स्नेह नहीं रहा, अथवा स्नेह रखनेकी इच्छा निवृत्त हुई है, अथवा निवृत्त होने आयी है, ऐसे इस संसारमें कार्यरूपसे कारणरूपसे प्रवर्तन करनेकी इच्छा नहीं रही, उससे निवृत्ति ही आत्मामें रहा करती है, ऐसा होनेपर भी उसके अनेक प्रकारके संग-प्रसंगमें प्रवर्तन करना पड़ता है ऐसा पूर्वमें किसी प्रारब्धका उपार्जन किया है, जिसे समपरिणामसे वेदन करते हैं तथापि अभी भी कुछ समय तक वह उदययोग है, ऐसा जानकर कभी खेद पाते हैं, कभी विशेष खेद पाते हैं; और विचारकर देखनेसे तो उस खेदका कारण परानुकंपा ज्ञात होता है। अभी तो वह प्रारब्ध स्वाभाविक उदयके अनुसार भोगनेके सिवाय अन्य इच्छा उत्पन्न नहीं होती, तथापि उस उदयमें अन्य किसीको सुख, दुःख, राग, द्वेष, लाभ, अलाभके कारणरूप दूसरेको भासित होते हैं। उस भासनेमें लोकप्रसंगकी विचित्र भ्रांति देखकर खेद होता है।"

``...हमें तो अत्यन्त अत्यन्त विकटताके प्रसंगका उदय है।"

कृपालुदेवने स्वयंकी गहन आभ्यंतरदशा पर इस पत्रमें प्रकाश डाला है और सनातन जिनमार्गमें ज्ञानीपुरुषोंका जैसा आचरण होता है वैसा ही आचरण खुदका वर्तता है। यह प्रवर्तमान हकीकतके आधारसे स्पष्ट किया है।

पूर्वकर्मका उदय स्वकाल अनुसार क्रमशः उदयरूप वर्तता है, ऐसे संसारमें स्वयंको राग नहीं रहा। ऐसे सांसारिक कार्योंकी प्रवृत्तिमें

सम्यक् प्रकारसे अर्थात् ज्ञाताभावसे उदयको भोगते हैं, जिसके कारण जो भी उदयके प्रसंग हो, उसमें हानि-वृद्धि करनेकी इच्छा उत्पन्न नहीं होती। उदयप्रसंगमें अपनत्वका अनुभव नहीं होनेसे, किसी भी प्रसंगमें कार्यरूप या कारणरूप प्रवर्तन करनेकी इच्छा नहीं रही है। सिर्फ परेच्छानुसारीतासे प्रवृत्ति होती है; और उसे योग्य माना है।

आत्माको तो उदयसे निवृत्ति ही रहती है। तथापि अनेक प्रकारके संग-प्रसंगमें प्रवृत्ति करनी पड़े ऐसा प्रारब्ध पूर्वमें उपार्जित किया है, जिसका समभावपूर्वक वेदन किया जाता है। स्वयंके निर्मल ज्ञानमें ऐसा प्रवृत्ति योग अभी ज्यादा समय चलेगा, ऐसा लगता है - ऐसा मालूम होने पर कभी अल्प खेद होता है, तो कभी विशेष खेद भी हो जाता है। क्योंकि निवृत्त नहीं हो सकते हैं। उसके कारणका विचार करने पर अर्थात् मान लो वर्तमानमें निवृत्त ले ले तो सम्बन्धमें रहे कुछएक जीवोंके प्रति अनुकम्पाका त्याग करने जैसा होगा, ऐसा लगता है, अतः परानुकम्पाके कारण भी स्वाभाविक उदयके अनुसार आराधनाभावपूर्वक रहनेके अलावा अन्य इच्छा उत्पन्न नहीं होती है। यद्यपि वे मुख्यतया साक्षीभावसे (ज्ञाताभावसे) रहते हैं; तथापि दूसरे किसी जीवको सुख, दुःख, राग, द्वेष, लाभ, अलाभके कारणरूप भासित होते हैं; और स्वयं साक्षी होने पर भी दूसरे भ्रांतिवशात् उन्हें कर्तारूप देखते हैं, वह भी खेद होनेका निमित्त है।

ज्ञानीपुरुषको, संसारमें प्रवृत्ति करते हुए साक्षीरूप रहना और साक्षी होने पर भी कर्तारूप माने जाय या दिखें वह दुधारी तलवार पर चलनेके बराबर है। किसी ज्ञानीको उस प्रकारकी विकट स्थिति नहीं होती। परन्तु कृपालुदेवको तो अत्यंत-अत्यंत विकटताका प्रसंग है। ऐसे प्रसंगमें भी वे अलौकिक अंतर्मुखी पुरुषार्थ द्वारा उदासीनतासे

रहते हैं; ज्ञानियोंके मार्गसे चलित नहीं होते या परिणमनमें बिलकुल भी संतुलन नहीं गवाँते हैं। इसतरह अंतरंग सूक्ष्म परिणामोंसे अध्यात्मदशामें विचरते हुए और मार्गकी आराधना करते हुए वे पूर्णताके प्रति आगे बढ़ रहे हैं। आराधनाकी साक्षात् मूर्तिको परम भक्तिसे नमस्कार हो !

४११

बंबई, आसोज सुदी १०, (दशहरा), १९४८

``चरमशरीरीपन इस कालमें नहीं है, तथापि अशरीरीभावसे आत्मस्थिति है तो वह भावनयसे चरमशरीरीपन नहीं, अपितु सिद्धत्व है; और यह अशरीरीभाव इस कालमें नहीं है ऐसा यहाँ कहें तो इस कालमें हम खुद नहीं हैं, ऐसा कहने तुल्य है।''

कृपालुदेवको स्वरूपका श्रद्धा-बल और निःशंकता कितनी असाधारणरूपसे रहती थी, यह इस पत्रमें व्यक्त हुआ है। देहात्मबुद्धिका अभाव होनेसे, धर्मात्माको शरीरसे भिन्नताका भाव प्रत्यक्ष अनुभवगोचररूप वर्तता है। आत्मा तो स्वरूपसे अशरीरी होनेसे आत्मभावरूप परिणमन करनेमें स्वयंमें ही अशरीरीपन प्रत्यक्ष वेदनमें आता है; वह भावसे अशरीरीपन है। सिद्धदशामें द्रव्यसे अशरीरीपन होता है। ऐसा सिद्धपद स्व-रूप प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होता है, वह भवके अभावका कारण है। अतः भावसे तो स्वयंको सिद्धत्व ही अनुभवमें आ रहा है। जिनकी ऐसी भावसे अशरीरी दशा प्रत्यक्ष वर्तती हो उन्हें, `चरमशरीरीपन इस कालमें नहीं होता,' ऐसे आगमकथनसे क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं है।

यहाँ पर कृपालुदेवको तो ऐसा कहना है कि, हमें जब भावनयसे सिद्धत्वका अनुभव है, तो फिर ऐसेमें चरमशरीरीपनका क्या महत्व

है ? ! हमारी विद्यमान दशा ही और उसमें चल रही निःशंकता ही आगमके इस विधानको मानो जैसे चुनौतीके बराबर है। इससे अधिक तो कहे भी क्या ? अध्यात्मदशा तो दशा है, परन्तु उसमें चल रहा उनका पुरुषार्थ और आत्मभावना भी गज़ब चल रहे हैं।

४१२

बंबई, आसोज वदी ६, १९४८

``यहाँ आत्माकारता रहती है, आत्माका आत्मस्वरूपरूपसे परिणामका होना उसे आत्माकारता कहते हैं।''

इस पत्रमें सरल भाषामें कृपालुदेवने अपने परिणमनमें चल रही आत्माकारताका उल्लेख किया है। यद्यपि ऐसा उल्लेख उनके अनेक पत्रोंमें देखने मिलता है। तथापि श्री सौभाग्यभाईको सिर्फ एक पंक्तिका पत्र लिखकर, स्वयंकी दशा द्वारा साक्षात् आत्माकार परिणमन कैसे चल रहा है, यह दिखाकर लाक्षणिक पद्धतिसे बोध दिया है। बोध देनेकी कृपालुदेवकी यह एक असाधारण विचक्षणता है, जिसका यहाँ पर दर्शन होता है।

४१४

बंबई, आसोज, १९४८

``जो कुछ उपाधि की जाती है, वह कुछ `अस्मिता' के कारण करनेमें नहीं आती, तथा नहीं की जाती। जिस कारणसे की जाती है, वह कारण अनुक्रमसे वेदन करने योग्य ऐसा प्रारब्ध कर्म है। जो कुछ उदयमें आता है उसका अविसंवाद परिणामसे वेदन करना, ऐसा जो ज्ञानीका बोधन है वह हममें निश्चल है, इसलिये उस प्रकारसे वेदन करते हैं। तथापि इच्छा तो ऐसी रहती है कि अल्पकालमें,

एक समयमें यदि वह उदय असत्ताको प्राप्त होता हो, तो हम इन सबमेंसे उठकर चले जायें, इतना आत्माको अवकाश रहता है। तथापि `निद्राकाल,' भोजनकाल तथा अमुक अतिरिक्त कालके सिवाय उपाधिका प्रसंग रहा करता है, और कुछ भिन्नांतर नहीं होता, तो भी आत्मोपयोग किसी प्रसंगमें भी अप्रधानभावका सेवन करता हुआ देखनेमें आता है, और उस प्रसंगपर मृत्युके शोकसे अत्यंत अधिक शोक होता है, यह निःसंदेह है।'

``ऐसा होनेसे और गृहस्थ प्रत्ययी प्रारब्ध जब तक `सर्वथा' अयाचकताका सेवन करनेवाला चित्त रहनेमें ज्ञानीपुरुषोंका मार्ग निहित है, इस कारण इस उपाधियोगका सेवन करते हैं। यदि उस मार्गकी उपेक्षा करें तो भी ज्ञानीका अपराध नहीं करते, ऐसा है, फिर भी उपेक्षा नहीं हो सकती। यदि उपेक्षा करें तो गृहाश्रमका सेवन भी वनवासीरूपसे हो, ऐसा तीव्र वैराग्य रहता है।''

``सर्व प्रकारके कर्तव्यके प्रति उदासीन ऐसे हमसे कुछ हो सकता हो तो एक यही हो सकता है कि पूर्वोपार्जितका समताभावसे वेदन करना; और जो कुछ किया जाता है वह उसके आधारसे किया जाता है, ऐसी स्थिति है।''

जगतवासी जीव उपाधि करते हैं वह परपदार्थमें ममत्वके कारण करते हैं। परन्तु कृपालुदेवकी बाह्य-प्रवृत्तिवाली दशामें अलग ही कारण है। ज्ञानीपुरुषकी प्रवृत्ति संयोगमें अपनत्वके कारण नहीं की जाती है, परन्तु क्रमशः वेदन करने योग्य जो प्रारब्ध कर्म, उसे अविसंवाद परिणामसे अर्थात् समभावसे (ज्ञातारूप रहकर) वेदन करना ऐसी जो शिक्षा है, वह कृपालुदेवको निश्चलरूपसे है। अतः उसप्रकारसे वेदन करके वे पूर्वकर्मकी निर्जरा करते हैं। मुख्य वृत्तिसे सिर्फ साक्षी भावरूप परिणमनके कारण ज्ञानी बँधते नहीं हैं। तथापि उन्हें भावना

तो ऐसी वर्तती है कि उदय यदि अस्ततताको प्राप्त हो जाय तो अभी इन सभी प्रसंगोंसे उठकर चल पड़े। वह आत्माके लिये सहज है। निर्ममत्वताके कारण इतनी तैयारी है। इतना ही नहीं निद्रा और भोजनकालके अलावा उपाधिका प्रसंग सतत रहा करता है; इसलिये आत्म-उपयोग (आत्मपरिणति नहीं), कभी किसी प्रसंगमें अप्रधानताको प्राप्त होता मालूम पड़ता है। यानी कि निजअवलोकनमें कभी कोई प्रसंगमें बाह्य उपयोगकी मुख्यता वर्तती है; वह भी भिन्न ज्ञानमें देखी जाती है, जिसके कारण मृत्युके शोकसे भी अधिक वेदना होती है। तीव्रज्ञानदशामें आत्मपरिणतिकी उग्रता रहती होनेसे, उपयोगमें भी आत्मा ही मुख्य रहे, अन्य प्रसंग नहीं - ऐसा पुरुषार्थका झुकाव रहता होनेसे, उपयोगमें यदि आत्मा अप्रधानताको प्राप्त होवे तो उसका वेदनापूर्वक ज़ोरसे निषेध आता है। यह समीप मोक्षगामी होनेकी द्योतक परिस्थिति है।

इस जगह एक दूसरा न्याय भी कृपालुदेवने व्यक्त किया हैः स्वयं ज्ञानीपुरुषके मार्गका अनुसरण करते हैं और वह मार्ग अयाचकताका है। गृहस्थके योग्य प्रारब्ध रहे तब तक सर्वथा अयाचकता चित्तमें रहे उसमें ज्ञानीपुरुषोंका मार्ग रहता होनेसे यह उपाधि की जाती है।

ज्ञानीपुरुषोंका मार्ग आदिसे अंत तक अयाचकतासे प्रवर्तन करनेका है। जिस ज्ञानदशामें आत्माका बेहद सामर्थ्य स्व-रूप भासित होता हो उसे याचकतारूप दीनता कहाँसे होगी? अर्थात् हरगिज़ नहीं होगी। जहाँ तक अल्प रागके कारण गृहस्थदशा वर्तती हो वहाँ तक, ज्ञानीपुरुष, आत्मजागृत्तिपूर्वक व्यावहारिक प्रवृत्तिमें रहकर, अयाचकपने रहकर, गृहस्थी निभाते हैं। और वीतरागता वृद्धिगत होने पर त्यागीदशामें भी अयाचकपने रहकर ज्ञानीके मार्गका परिशीलन

करते हैं। कहीं भी दीनवृत्तिसे याचना करके ज्ञानीके मार्गकी विराधना नहीं करते हैं - ऐसा सनातन निर्दोष और पवित्र सन्मार्ग जयवंत वर्तो ! नमस्कार हो उन मार्ग आराधक संतोंको !

परमकृपालुदेवका सामर्थ्य तो ऐसा था कि अयाचकतारूप ज्ञानी के मार्गकी किसी अंशमें उपेक्षा करे और व्यावसायिक प्रवृत्तिका त्याग कर दे, उस वज़हसे जिस प्रकारका दैहिक जीवन बीतानेका हो, तो भी ज्ञानीके मार्गकी विराधना नहीं होवे, तथापि उनके द्वारा वैसी उपेक्षा नहीं हो सकी। जब कि अगर उपेक्षा करके व्यवसायका त्याग कर दे तो गृहस्थीमें (४ थे गुणस्थानकी दशामें) भी वनवासीपना / त्यागीपना सहज बना रहे ऐसा तीव्र वैराग्य उन्हें वर्तता है। और परिणाममें बिलकुल भी याचकवृत्ति न हो ऐसी परिणाममें खुदकी शक्ति है।

कृपालुदेव तो सर्व प्रकारके व्यावहारिक कर्तव्यके विषयमें उदासीन हैं, अतः एकमात्र पूर्वोपार्जित प्रारब्धका समताभावसे वेदन करना, वह एक ही हो सकता है, और जो भी बाह्यप्रवृत्ति की जाती है, वह इसके आधारसे की जाती है।

४१५

बंबई, आसोज, १९४८

``किसी भी प्रकारके अपने आत्मिक बंधनको लेकर हम संसारमें नहीं रह रहे हैं। ...तनके लिये, धनके लिये, भोगके लिये, सुखके लिये स्वार्थके लिये अथवा किसी प्रकारके आत्मिक बंधनसे हम संसारमें नहीं रह रहे हैं। ऐसा जो अंतरंगका भेद उसे, जिस जीवको मोक्ष निकटवर्ती न हो, वह जीव कैसे समझ सकता है ?''

``दुःखके भयसे भी संसारमें रहना रखा है, ऐसा नहीं है।

मान-अपमानका तो कुछ भेद है, यह निवृत्त हो गया है ''

धर्मात्माकी सांसारिक प्रवृत्ति मात्र पूर्वकर्मकी निर्जरा हेतु ही होती है। जो मात्र `कर्ज चुकाना' इस न्यायसे होती है। किसी भी प्रकारके आत्मिक बंधनके कारणसे कुटुम्ब आदि या व्यापार आदि संयोगोंके बीच रहना नहीं होता। आत्मिक बंधन नहीं होनेसे, आत्माके द्वारा तो सर्वसे भिन्नता ही रहती है। जो जीव मोक्षाभिलाषी अर्थात् पात्र होते हैं, वैसे जीवोंको, ऐसा ज्ञानीपुरुषका अंतरंग (गुप्त रहस्य) समझमें आता है; दूसरे जीवोंको समझमें नहीं आता। उक्त प्रकारसे कृपालुदेवकी दशाका दर्शन इस पत्रमें होता है।

कृपालुदेवको सामाजिक मान-अपमानका भेद निवृत्त हो गया है। और प्रतिकूल संयोगोंरूप दुःखके भय से भी संसारकी प्रवृत्तिमें रहनेका रखा है, ऐसा भी नहीं है। इसलिए प्रवृत्तिमें रहकर भी उन्होंने मार्गकी राह बहुत अंशमें काटकर, मोक्ष प्रति आगे और आगे, प्रतिक्षण अनन्यभाव से प्रवर्त रहे हैं। वंदन हो उनके परम पुरुषार्थको !!

४२१

बंबई, आसोज, १९४८

``पूर्वमें उपार्जित किया हुआ जो कुछ प्रारब्ध है, उसे वेदन करनेके सिवाय दूसरा प्रकार नहीं है, और योग्य भी इस तरह है, ऐसा समझकर जिस जिस प्रकारसे जो कुछ प्रारब्ध उदयमें आता है उसे समपरिणामसे वेदन करना योग्य है, और इस कारणसे यह व्यवसाय-प्रसंग रहता है।''

``चित्तमें किसी प्रकारसे उस व्यवसायकी कर्तव्यता प्रतीत न होनेपर भी, वह व्यवसाय मात्र खेदका हेतु है, ऐसा परमार्थ निश्चय

होनेपर भी प्रारब्धरूप होनेसे, सत्संगादि योगका अप्रधानरूपसे वेदन करना पड़ता है। उसका वेदन करनेमें इच्छा-अनिच्छा नहीं है; परन्तु आत्माको अफल ऐसी इस प्रवृत्तिका सम्बन्ध रहते देखकर खेद होता है और इस विषयमें वारंवार विचार रहा करता है।''

उदयरूप व्यवसाय-प्रसंगके विषयमें कृपालुदेव अपना स्पष्ट अभिप्राय यहाँपर व्यक्त करते हैं कि जिस-जिस प्रकारसे जो कुछ प्रारब्ध उदय आये, उसका समपरिणामसे वेदन कर्तव्य है, अर्थात् जो-जो प्रारब्ध उदयकालमें तत्संबंधी राग-द्वेष भावसे परिणमन नहीं करके, सम्यक् प्रकारसे भिन्न ज्ञाताभावमें रहकर, उदय प्रसंगको व्यतीत करना ही उचित है, अर्थात् ज्ञानीपुरुषका ऐसा परिणमन ही योग्य है। क्योंकि जो भी प्रारब्ध उदय वर्तता है, वह खुदका ही पूर्व उपार्जित है।

व्यवसाय कर्तव्य है, ऐसा किसी भी अंशमें मालूम नहीं होता है। अतः परमार्थकी अपेक्षा अफल ऐसी यह व्यावसायिक प्रवृत्तिका सम्बन्ध रहता है; और उस कारणसे सत्संगादि योगको गौण करना पड़ता है, इसलिये खेद रहता है; परन्तु प्रारब्धको भोगनेके विषयमें इच्छा या निरिच्छा नहीं है, बल्कि समभाव है। - ऐसा परमार्थ निश्चय है। सहजभावसे सम्यक् प्रकारसे परिणमन और उदयकी सहज प्रवृत्ति - इन दोनोंके बीच, ज्ञानदशामें जो अद्‌भुत संतुलन होता है - इसका यहाँ पर दर्शन होता है।

ज्ञानीके सत्संगसे अज्ञानीके प्रसंगकी रुचि मंद हो जाये, सत्यासत्यका विवेक हो, अनंतानुबंधी क्रोधादिका नाश हो, अनुक्रमसे सब रागद्वेषका क्षय हो जाय, यह सम्भव है; और ज्ञानीके निश्चय द्वारा यह अल्पकालमें अथवा सुगमतासे हो, यह सिद्धांत है।
(कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी)

वर्ष २६वाँ

४२४

बंबई, कार्तिक वदी १२, १९४९

``मुमुक्षुजीवके दर्शनकी तथा समागमकी निरंतर इच्छा रखते हैं। तापमें विश्रांतिका स्थान उसे समझते हैं। तथापि अभी तो उदयाधीन योग रहता है।''

कृपालुदेवको संसारमें रहना पड़ता है, उसका ताप लगता हैं। उन्हें कोई भी सांसारिक संग-प्रसंग एकक्षणके लिये भी नहीं रुचता। ऐसी परिस्थितिमें मुमुक्षुजीवका मिलन और समागम एक विश्रांतिस्थान जैसा लगता है; अतः निरन्तर इसकी इच्छा रहती है। यद्यपि स्वयं महा समर्थ ज्ञानी थें तथापि उनकी सत्संगकी भावनाका यहाँपर दर्शन होता हैं, जो कि मुमुक्षुजीवको सत्संग हेतु प्रेरणा और स्वयं बोधस्वरूप है।

४२५

बंबई, मगसिर वदी ९, सोम, १९४९

``उपाधिका वेदन करनेके लिये अपेक्षित दृढ़ता मुझमें नहीं है, इसलिये उपाधिसे अत्यंत निवृत्तिकी इच्छा रहा करती है, तथापि उदयरूप जानकर यथाशक्ति सहन होती है।

परमार्थका दुःख मिटनेपर भी संसारका प्रासंगिक दुःख रहा करता है, और वह दुःख अपनी इच्छा आदिके कारणसे नहीं है, परन्तु दूसरेकी अनुकंपा तथा उपकार आदिके कारणसे रहता है। और इस विडंबनामें चित्त कभी विशेष उद्वेगको प्राप्त हो जाता है।'.... इस उद्वेगके सिवाय दूसरा कोई दुःख संसारप्रसंगका भी मालूम नहीं होता। जितने प्रकारके संसारके पदार्थ हैं, उन सबमें

यदि अस्पृहता हो और उद्वेग रहता हो तो वह अन्यकी अनुकम्पा या उपकार या वैसे कारणसे हो, ऐसा मुझे निश्चित लगता है। इस उद्वेगके कारण कभी आँखोंमें आँसु आ जाते हैं, और उन सब कारणोंके प्रति वर्तन करनेका मार्ग अमुक अंशमें परतंत्र दिखायी देता है। इसलिये समान उदासीनता आ जाती है।"

निरुपाधिक स्वभावका श्रद्धा-ज्ञानमय परिणमन होनेके कारण, ज्ञानीको उपाधिभावका बोझा बहुत लगता है; इसलिए उपाधिसे अत्यंत निवृत्त होनेकी भावना निरंतर रहा करती है। परन्तु उदयमान निरुपायता जानकर उसे यथाशक्ति सहन करते हैं। सामान्यजनको मनुष्यके योग्य उदय / उपाधिका आदी हो जाता है, इसलिए उपाधिभाव साधारण हो जाते है। परन्तु स्वरूपज्ञानीको तो निरूपाधिकमार्गमें आगे बढ़ने पर थोड़ी भी उपाधिका वेदन करना, वह कठिन हो जाता है।

इस पत्रमें कृपालुदेव स्पष्ट करते हैं कि हमें परमार्थ प्राप्तिके वियोगका दुःख मिटा है; फिर भी संसारका प्रासंगिक दुःख रहा करता है; वह दुःख खुदकी इच्छाविरुद्ध प्रसंग होनेके कारण नहीं है; परन्तु दूसरोंकी अनुकंपा एवं उपकार आदिके कारणोंसे रहता है। उसका प्रकार ऐसा है कि, सम्बन्धित कोई जीवके प्रति अनुकंपाका त्याग हो अथवा सम्बन्धित किसी जीवके उपकारका उल्लंघनका प्रकार हो तो वह योग्य नहीं है। तथापि परमार्थ मार्गको इस कारणसे गौण करना पड़े वह भी योग्य नहीं है। इस प्रकार संसार और परमार्थके बीचकी विसंगतता एक विडंबनारूप है, इस कारणसे चित्तमें कभी-कभी विशेष उद्वेग हो आता है। संसारमें जितने भी प्रकारके पदार्थ हैं उन सर्वमें, स्वयंको स्पृहारहितपना वर्त रहा है, इसलिए सांसारिक प्रसंगके कारण उद्वेग नहीं है- वैसा निश्चय वर्तता है।

परन्तु उदासीनभावसे संसार-प्रसंगमें वर्तते हुए, अन्यकी अनुकंपा या उपकार या ऐसे किसी कारणसे जो विडंबना उत्पन्न होती है, उस कारणसे वर्तते हुए विशेष उद्वेगके कारण आँसु भी आ जाते हैं। परन्तु भिन्न वस्तुभूतपनाके कारण, बाह्य कारणोंमें परतंत्रता दिखती है, इसलिए सहज उदासीनता आ जाती है।

इस विषयका तात्पर्य ऐसा है कि, व्यवहार और परमार्थके बीचका संतुलन बनाये रखनेके लिए पूर्व कर्मके उदयको उदासीन परिणामसे वेदन करके उसकी निर्जरा करनी; साथ ही साथ अन्य जीवकी अनुकंपा और उपकारके कारणको लक्ष्यमें रखकर, सहन करके भी उपाधिको भोगना - इस प्रकार वर्तना यद्यपि इतना आसान नहीं है, दुधारी तलवार पर चलनेसे भी विशेष कठिन और दुर्घट है। ऐसे मार्ग पर ज्ञानीपुरुषको वर्तते हुए देखकर, कोई भी अंतरसे पहचाननेवाले मुमुक्षुका हृदय झुक जाय, यह स्वाभाविक है।

श्री आनन्दघनजीने सत्य ही कहा है कि, 'धार तरवारनी सोहली, दोहली चौदमा जिनतणी चरणसेवा'। ऐसे दुर्लभ मार्ग पर चलकर विजय प्राप्त करनेवाले धर्मात्माको नमस्कार हो !

४२७

बंबई, माघ सुदी ९, गुरु १९४९

"सत्संगका लक्ष्य हमारे आत्मामें रहता है, तथापि उदयाधीन स्थिति है, और वह अभी ऐसे परिणाममें रहती है कि आप मुमुक्षुजनके पत्रकी पहुँच मात्र विलंबसे दी जाती है। चाहे जैसी स्थितिमें भी अपराधयोग्य परिणाम नहीं है।"

जो-जो मुमुक्षु ज्ञानीपुरुषका आश्रय चाहते हैं, ऐसे मुमुक्षुजीवोंको सत्संग प्राप्त होना, यह इस कालमें महाभाग्यरूप गिनना चाहिये।

ऐसे सत्संगका लक्ष्य उनके आत्मामें बसा है, फिर भी बाह्यमें उदयाधीन स्थिति है; और उसी समय अंतरंगमें स्वरूप प्रत्ययी अंतर्मुखपुरुषार्थयुक्त - उदासीन भावरूप परिणाम चलते हैं कि जिसके कारण सत्संग योग्य ऐसे मुमुक्षुजनके पत्रकी पहुँच सिर्फ लिखी जाती है। (विस्तारसे प्रत्युत्तर - विस्तारपूर्वक उपरोक्त कारणोंसे लिख नहीं सकते।) और वह भी लिखनेमें विलंब हो जाता है।

उपरोक्त स्थितिमें परमार्थवृत्तिकी मुख्यताके कारण, मुमुक्षुओंको अन्याय होता है फिर भी वैसे परिणाम अपराधयोग्य नहीं हैं, ऐसा स्पष्टीकरण किया है। उसका कारण यह है कि - आत्माकार स्थिति विशेष रहती होनेसे, इस प्रकार रहते हुए निर्दोषता और पवित्रता विशेष प्रकट होते हो, वहाँ ज्ञानीपुरुषको व्यावहारिक कार्योंका बंधन नहीं होता। क्योंकि एक न्यायसे वे व्यवहारसे पर हो चुके हैं, इसलिये उनके बाह्य वर्तनमें दिखता अन्याय वास्तवमें अपराधयोग्य नहीं है। ऐसा जानने योग्य है।

❈

४३१

बंबई, फागुन सुदी ७, गुरु, १९४९

``हमारा अभिप्राय कुछ भी देहके प्रति हो तो वह मात्र एक आत्मार्थके लिये ही है, अन्य अर्थके लिये नहीं। दूसरे किसी भी पदार्थके प्रति अभिप्राय हो तो वह पदार्थके लिये नहीं, परन्तु आत्मार्थके लिये है। वह आत्मार्थ उस पदार्थकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हो, ऐसा हमें नहीं लगता। `आत्मत्व' इस ध्वनिके सिवाय दूसरी कोई ध्वनि किसी भी पदार्थके ग्रहण-त्यागमें स्मरण योग्य नहीं है। अनवकाश आत्मत्व जाने बिना, उस स्थितिके बिना अन्य सर्व क्लेशरूप है।''

इस पत्रमें कृपालुदेवने अपने अभिप्राय विषयक स्पष्टता की है। उनका अभिप्राय सिर्फ आत्मार्थ ही है, फिर प्रासंगिक बात वह चाहे देहकी हो चाहे किसी भी अन्य पदार्थकी हो, परन्तु सर्वत्र एक आत्मार्थका ही अभिप्राय है। अपने आत्मार्थकी स्पष्टता अनुभवदृष्टिसे की है कि, किसी भी पदार्थकी प्राप्ति-अप्राप्ति विषयक हमारा आत्मार्थ नहीं है। किसी भी पदार्थके ग्रहण-त्यागमें एक आत्मत्व अर्थात् `मैं तो सिर्फ ज्ञाता ही हूँ।' इस ध्वनिके अलावा दूसरा कोई ध्वनि होगा ऐसा हमें या किसी अन्यको स्मरण करने योग्य नहीं है। हमारे परिणमनमें तो उक्त प्रकारसे अनवकाशरूपसे सिर्फ आत्मत्व ही रहा करता है। इस स्थितिके अलावा, हमें तो अन्य सर्व क्लेशरूप है।

❈

४३९

बंबई, चैत्र सुदी ६, गुरु, १९४९

``उपाधिका योग विशेष रहता है। जैसे जैसे निवृत्तिके योगकी विशेष इच्छा हो आती है, वैसे वैसे उपाधिकी प्राप्तिका योग विशेष दिखायी देता है। चारों तरफसे उपाधिकी भीड़ है। कोई ऐसा मार्ग अभी दिखायी नहीं देता कि अभी इसमेंसे छूटकर चले जाना हो तो किसीका अपराध किया न समझा जाय। छूटनेका प्रयत्न करते हुए किसीके मुख्य अपराधमें आ जानेका स्पष्ट सम्भव दिखायी देता है, और यह वर्तमान अवस्था उपाधिरहित होनेके लिये अत्यंत योग्य है; प्रारब्धकी व्यवस्था ऐसी बाँधी होगी।''

कृपालुदेवको सर्व संयोगोंसे अपने भिन्नत्वका अनुभव करते हुए किस प्रकार प्रवर्तमान संयोग भिन्नरूप दिखते थे, यह इन वचनोंमें स्पष्ट मालूम पड़ता है। बाह्यमें उपाधियोग बढ़ता जाता है, और अंतरंगमें तो उपाधिक कार्योंसे निवृत्त होनेकी इच्छा वृद्धिगत होती

जाती है। निवृत्तिकी भावना वृद्धिगत होती थी, फिर भी बाह्य संयोगोंमें चारों तरफसे उपाधिकी भीड़ हो रही हो, ऐसी स्थिति दिखती है। यह इस पत्रसे मालूम पड़ता है। और इसी प्रकारका उल्लेख उन्होंने अंगत काव्य (`धन्य रे दिवस आ अहो') में भी किया है। वर्तमानमें चल रही उदासीनअवस्था निवृत्तियोगके लिये अत्यंत योग्य है; ऐसा आत्मामें रहता था, इतना ही नहीं उपाधिमेंसे छूटकर चल पड़े ऐसी परिणामशक्ति होने पर भी, ऐसा करनेसे किसीके प्रति मुख्य अपराध होनेका स्पष्ट संभव देखकर, वैसी हठयुक्त प्रवृत्ति नहीं करके, उन्होंने पूर्व प्रारब्धकी प्रबंधित व्यवस्थाका अनुसरण करना उचित समझा है। और इसतरह प्रारब्ध अनुसार प्रवृत्तिमें रहते हुए भी, भिन्न ज्ञानमय आत्माके ज्ञानरूप परिणमनसे, प्रतिक्षण पूर्ण शुद्धतारूप मोक्षके प्रति अनन्य भावसे आगे बढ़ रहे हैं। धन्य है उनकी आराधना !

४४४

बंबई, चैत्र वदी ३०, रवि, १९४९

``संसारीरूपसे रहते हुए किस स्थितिसे वर्तन करें तो अच्छा, ऐसा कदाचित् भासित हो, तो भी वह वर्तन प्रारब्धाधीन है। किसी प्रकारके कुछ राग, द्वेष या अज्ञानके कारणसे जो न होता हो, उसका कारण उदय मालूम होता है।''

कृपालुदेवको निवृत्तयोगकी तीव्र भावना होने पर भी, प्रारब्धाधीनरूप, संसारीरूप रहनेके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं दिखता। ऐसा जानकर वे प्रवृत्तिके बीच दिखते तो हैं किन्तु उस प्रवृत्ति सम्बन्धित किसी भी प्रकारका कार्य, राग-द्वेष या अज्ञानके कारणसे - निमित्तसे कुछ नहीं किया जाता है; इसलिये वह प्रवृत्ति सिर्फ उदयके कारण ही है - ऐसा जानने योग्य है। इस पत्रमें

भी उनका, संयोगरूप परपदार्थके प्रति अकर्तृत्व स्पष्ट प्रदर्शित होता है।

४४९

बंबई, जेठ सुदी ११, शुक्र, १९४९

``जो प्रवृत्ति यहाँ उदयमें है, वह ऐसी है कि दूसरे द्वारसे चले जाते हुए भी छोड़ी नहीं जा सकती, वेदन करने योग्य है, इसलिये उसका अनुसरण करते हैं; तथापि अव्याबाध स्थितिमें जैसाका तैसा स्वास्थ्य है।''

कृपालुदेवका जीवन मुमुक्षुजीवके लिए साक्षात् बोधस्वरूप है। उन्हें प्रवृत्तिका उदय है। वह उदय इस प्रकारका है कि कदाचित् दूसरे द्वारसे चले जाना हो तो भी उस उदयको छोड़ नहीं सके, ऐसी प्रवृत्तिका उदय है। इसलिए सम्यक् प्रकारसे वेदन करते हुए उस उदयका अनुसरण करते हैं जिससे आत्म स्वास्थ्यमें अव्याबाधत्व यथावत् बना रहता है। वास्तवमें ऐसा जो ज्ञानदशाका प्रकार है वह पूर्वकर्मके उदयमें वर्तते किसी भी मुमुक्षुजीवको अनुसरण करने योग्य है। अर्थात् जिस-जिस कालमें जो भी प्रारब्ध उदय आये उससे भिन्न रहकर `ज्ञातारूपसे' रहनेका प्रयत्न करने योग्य है, कि जिसके फलस्वरूप ज्ञानदशाकी संप्राप्ति हो।

४५०

बंबई, जेठ सुदी १५, मंगल, १९४९

``हममें मार्गानुसारिता कहना संगत नहीं है। अज्ञानयोगिता तो जबसे इस देहको धारण किया तभीसे नहीं होगी ऐसा लगता है। सम्यग्दृष्टिपन तो जरूर संभव है। किसी प्रकारका सिद्धियोग साधनेका

हमने कभी भी सारी जिंदगीमें अल्प भी विचार किया हो ऐसा याद नहीं आता, अर्थात् साधनसे वैसा योग प्रगट हुआ हो, ऐसा नहीं लगता। आत्माकी विशुद्धताके कारण यदि कोई वैसा ऐश्वर्य हो तो उसकी असत्ता नहीं कही जा सकती। वह ऐश्वर्य कुछ अंशमें संभव है; तथापि यह पत्र लिखते समय इस ऐश्वर्यकी स्मृति हुई है, नहीं तो बहुत कालसे वैसा होना स्मरणमें नहीं है तो फिर उसे स्फुरित करनेकी इच्छा कभी हुई हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता, यह स्पष्ट बात है''

इस पत्रमें स्वयंकी दशाके विषयमें स्पष्टीकरण करनेके अलावा स्वयंके आत्मामें विशुद्धपनेके कारण प्राप्त सिद्धिजोगका स्वीकार प्रदर्शित किया है।

यद्यपि मार्गानुसारिता पात्रतायुक्त होती है, परन्तु ज्ञानदशा प्राप्त होनेके पहले वह भूमिका होती है, और स्वयं उस भूमिकासे आगे होनेके कारण स्वयंके विषयमें मार्गानुसारिता लागू नहीं होती। सिद्धियोगकी प्राप्ति अज्ञानयोगीको भी होती है; परन्तु वैसा प्रकार तो जन्मसे ही नहीं है, वैसा स्पष्ट उल्लेख किया है। और स्पष्टरूपसे बतलाया है कि सम्यग्दृष्टिपन तो जरूर संभव है। सम्यग्दृष्टिको रिद्धि-सिद्धि प्राप्त करनेकी इच्छा कभी भी नहीं होती। पुद्गलके किसी भी प्रकारके चमत्कारमें सुख या ठीक-अठीकपना मिथ्यादृष्टिपनके कारण ही उत्पन्न होता है। सम्यग्दृष्टि तो उस दिशामें अल्प भी विचार नहीं करते। तद्अनुसार उन्होंने जीवन पर्यंत ऐसी कोई भी रिद्धि-सिद्धि साधनेका विचार भी किया हो, ऐसा उनको याद नहीं आता। यद्यपि आत्मविशुद्धिके कारण ऐसा कोई ऐश्वर्य प्राप्त हो, उसका निषेध नहीं किया है बल्कि कुछ अंशमें स्वीकार किया है। फिर भी उसका स्मरण लंबे समयके बाद सिर्फ यह

पत्र लिखते समय ही हुआ है। परन्तु उस ऐश्वर्यका प्रयोग करनेकी स्फुरणा या इच्छा तो कभी हुई ही नहीं। ये वचन ऐसा दर्शाते हैं कि, कुछएक प्रकारका सिद्धियोग प्राप्त होने पर भी, सम्यग्दृष्टिपनेके कारण उस सिद्धियोगके द्वारा बाह्य पदार्थोंके प्रति उनको अल्प भी स्पृहा नहीं थी। यहाँ उनकी असाधारण ज्ञानदृष्टि पूर्वककी निस्पृहताका दर्शन होता है।

४५३

बंबई, प्रथम आषाढ़ वदी ३, रवि, १९४९

``गत सालके मार्गशीर्ष मासमें यहाँ आना हुआ, तभीसे उत्तरोत्तर उपाधियोग विशेषाकार होता आया है, और बहुत करके उस उपाधियोगका विशेष प्रकारसे उपयोग द्वारा वेदन करना पड़ा है। ....प्रायः सर्व कामनाओंके प्रति उदासीनता है, ऐसे हमको भी यह सर्व व्यवहार और कालादि, गोते खाते खाते संसारसमुद्रको मुश्किलसे तरने देता है। तथापि प्रति समय उस परिश्रमका अत्यंत प्रस्वेद उत्पन्न हुआ करता है, और उत्ताप उत्पन्न होकर सत्संगरूप जलकी तृषा अत्यंतरूपसे रहा करती है, और यही दुःख लगा करता है।''

``ऐसा होनेपर भी ऐसे व्यवहारका सेवन करते हुए उसके प्रति द्वेषपरिणाम करना योग्य नहीं है, ऐसा जो सर्व ज्ञानीपुरुषोंका अभिप्राय है, वह उस व्यवहारको प्रायः समतासे कराता है। आत्मा उस विषयमें मानों कुछ करता नहीं है, ऐसा लगा करता है।''

``मनमें ऐसा ही रहा करता है कि अल्पकालमें यह उपाधियोग मिटकर बाह्याभ्यंतर निर्ग्रन्थता प्राप्त हो तो अधिक योग्य है। तथापि यह बात अल्पकालमें हो ऐसा नहीं सूझता, और जब तक ऐसा

नहीं होता तब तक वह चिन्ता मिटनी सम्भव नहीं है।''

``किसी द्रव्यमें, किसी क्षेत्रमें, किसी कालमें, किसी भावमें स्थिति हो, ऐसा प्रसंग मानों कहीं भी दिखायी नहीं देता। केवल सर्व प्रकारकी उसमेंसे अप्रतिबद्धता ही योग्य है, तथापि निवृत्तिक्षेत्र और निवृत्तिकाल, सत्संग और आत्मविचारमें हमें प्रतिबद्ध रुचि रहती है। वह योग किसी प्रकारसे भी यथासम्भव थोड़े कालमें हो, इसी चिंतनमें अहोरात्र रहते हैं।''

परम कृपालुदेवका करीब पिछले डेढ़ सालसे व्यवसाय हेतु बंबई आना हुआ है, तबसे उत्तरोत्तर व्यवसायकी उपाधिका योग बढ़ता चला है। और इस उपाधियोगमें विशेषरूपसे यानी कि असाधारण पुरुषार्थपूर्वक उपयोगसे (आत्मजागृतिपूर्वक) प्रवर्तन हुआ है।

इतना ही नहीं उन्हें सर्व कार्योंके प्रति उदासीनता रहने पर भी जैसे समुद्र तैरनेवाला तैराक तुफ़ान आ जाने पर गोते खा जाता है, वैसे वर्तमान काल और व्यवहारसे भिन्न पड़नेके पुरुषार्थमें कभी-कभी थोड़े डगमगा जाते हैं; तथापि पुरुषार्थके कारण आत्मस्वस्थता प्राप्त है; परन्तु वह स्थिरता प्राप्त करनेमें अत्यंत अंतर परिश्रम करना पड़ता है। इसतरह संसाररूपी समुद्रको पार करते हुए स्वयंको जिस प्रकारका सामना करना पड़ता है, इसका उताप उत्पन्न होनेसे, वह शांत होनेके लिये सत्संगरूपी जलकी आवश्यकता अत्यंत लगी रहती है; फिर भी तथारूप सत्संगकी अप्राप्ति होनेसे उसका दुःख रहा करता है।

इसप्रकार व्यवहारमें प्रवृत्ति करने पर भी, `किसीके प्रति ज़रा सा भी द्वेष परिणाम कर्तव्य नहीं है, - ऐसा जो ज्ञानीपुरुषोंका अभिप्राय है, उसमें स्थिरता होनेसे, उस व्यवहारके प्रति भी समताभाव रहा है; और ऐसा स्पष्ट अनुभव वर्तता है कि, उन-उन बाह्य प्रसंगोंमें

आत्मा मानो जैसे कुछ करता ही नहीं। भिन्न चैतन्यके अनुभवपूर्वक साक्षात् अकर्तृत्व ऐसा होता है। वाकई यह दशा अलौकिक है।

मुमुक्षुजीवको तो कृपालुदेवका आंतरिक जीवन स्वयं बोधस्वरूप है कि ऐसे समर्थ ज्ञानीपुरुषको भी संसार तैरनेमें कैसा परिश्रम पड़ता है और संसारसे बचनेके लिये आत्मजागृतिसे प्रवर्तन होता है; और ऐसा करने पर सत्संगकी आवश्यकता महसूस होती है; तो आत्मार्थी जीवको संसार तैरनेके लिये सत्संग और कितनी विशेष जागृतिपूर्वक रहना आवश्यक है ? यह समझना सुगम है।

बंबई जैसे व्यापारिक क्षेत्रमें और बड़े कारोबारके बीच होने पर भी कृपालुदेवके परिणमनमें ऐसा रहा करता है कि अल्पकालमें यह उपाधियोग मिट जाय और बाह्याभ्यंतर निर्ग्रंथता प्राप्त हो तो विशेष योग्य है; अर्थात् वर्तमान स्थितिमें भी वे अंतरमें निर्ग्रंथ मुनिदशाकी भावनामें विचरते हो, ऐसा मालूम पड़ता है। यद्यपि उन्हें वैसी परिस्थिति नज़दीकी भविष्यमें बनेगी ऐसा नहीं लगता; इसलिये जब तक वर्तमान परिस्थिति लंबी चलती रहेगी तब तक निर्ग्रंथदशा सम्बन्धित चिंतवना चालू रहेगी और मिटेगी नहीं, ऐसी सहज योग्यता हो गई है; इसका भी यहाँपर दर्शन होता है।

यद्यपि बाहरमें किसी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें उनकी आत्मस्थिरता होगी, ऐसा कहीं भी नहीं दिखता। इसलिये सर्व क्षेत्र-काल आदिमें अप्रतिबद्धता ही योग्य है, और वर्तती भी है; तथापि निवृत्तिक्षेत्र, निवृत्तिकाल, सत्संग और आत्मविचारके विषयमें उन्हें प्रतिबद्धरुचि रहती है और वैसा योग चाहे कैसे भी अल्पकालमें प्राप्त हो, इसकी चिंतवना अहोरात्र रहती है।

यथार्थ भावना और सच्ची आत्मरुचिका स्वरूप ही ऐसा होता है कि जब तक भावना और रुचि अनुसार सफलता प्राप्त न हो

तब तक वह मिटती नहीं, अर्थात् चालू ही रहती है।

✻

४६१

बंबई, श्रावण सुदी ४, मंगल, १९४९

``कोई जीव सामान्य मुमुक्षु होता है, उसका भी इस संसारके प्रसंगमें प्रवृत्ति करनेका वीर्य मंद पड़ जाता है, तो हमें उसके सम्बन्धमें अधिक मंदता रहे, इसमें आश्चर्य नहीं लगता। तथापि किसी पूर्वकालमें प्रारब्ध उपार्जन होनेका ऐसा ही प्रकार होगा कि जिससे उस प्रसंगमें प्रवृत्ति करना रहा करता है,...'' ``यद्यपि इस बातका खेद करना योग्य नहीं है, और उदासीनताका ही सेवन करते हैं; तथापि उस कारणसे एक दूसरा खेद उत्पन्न होता है, वह यह कि सत्संग और निवृत्तिकी अप्रधानता रहा करती है और जिसमें परम रुचि है, ऐसे आत्मज्ञान और आत्मवार्ताको किसी भी प्रकारकी इच्छाके बिना क्वचित् त्याग जैसे रखने पड़ते हैं। आत्मज्ञान वेदक होनेसे उद्विग्न नहीं करता, परन्तु आत्मवार्ताका वियोग उद्विग्न करता है।''

सामान्य मुमुक्षुजीवको भी संसारका ध्येय छूटकर, पूर्ण पदका ध्येय होने पर, संसार-प्रसंगोंके प्रति प्रवर्तित वीर्य (उत्साह) मंद पड़ जाता है, तो फिर उत्कृष्ट ज्ञानदशामें विचरते कृपालुदेवको सांसारिक प्रसंगोंके प्रति - संसार प्रत्ययी प्रवर्तित वीर्यकी बहुत मंदता हो जाय, उसमें कोई आश्चर्य नहीं है। सांसारिक कार्योंमें प्रवृत्ति करनेका उत्साह नहीं होने पर भी, वैसे प्रसंगोंमें रहना पड़े तो वहाँ सहज खेद सहित उदासीनता ही रहती है। यहाँ पर वैसा खेद गौण है, परन्तु एक दूसरा खेद रहता है, जिसका कारण सत्संग और निवृत्तिकी अप्रधानता रहा करती है, वह है। परम रुचि है ऐसा जो आत्मज्ञान

और तत्सम्बन्धित सत्संगमें प्राप्त आत्मवार्ता - उसे, उदय प्रवृत्तिके कारण - (यद्यपि अभिप्रायमें तो उसकी मुख्यता ही रहती है तथापि) गौण करना पड़ता है, वह बहुत उद्वेग पैदा करता है। आत्मज्ञान परिणतिमें वेदनभूत होनेसे अर्थात् आत्माके वेदनकी निर्विकल्प परिणति प्रगटरूपसे निरन्तर चालू होनेसे उसके लिये उद्वेग नहीं होता, परन्तु इस परिणतिको सुसंगत ऐसा जो सत्संगका विरह वह तो अवश्य उद्विग्न करता है।

✻

४६३

बंबई, श्रावण सुदी १५, रवि, १९४९

``प्रायः आत्मामें यही रहा करता है कि जब तक इस व्यापारप्रसंगमें कामकाज करना रहा करे तब तक धर्म-कथादिके प्रसंगमें और धर्मके जानकारके रूपमें किसी प्रकारसे प्रगटरूपमें न आया जाये, यह यथायोग्य प्रकार है।''

``हमारा मन बहुत उदास रहता है और प्रतिबन्ध इस प्रकारका रहता है कि उस उदासीको एकदम गुप्त जैसी करके असह्य ऐसे व्यापारादि प्रसंगमें उपाधियोगका वेदन करना पड़ता है; यद्यपि वास्तविकरूपसे तो आत्मा समाधिप्रत्ययी है।''

कृपालुदेवका यह अभिप्राय बहुत-बहुत गहरे विचार और विचक्षणतापूर्ण है कि, जब तक स्वयं व्यापारकी बाह्य प्रवृत्तिमें हो तब तक धार्मिक समाजमें उपदेशकके रूपमें अपना प्रगटरूपसे कोई दिखाव नहीं हो। यह प्रकार यथायोग्य ही है। अन्यथा जिन महात्माओंने अंतरबाह्य निर्ग्रंथदशामें धर्मकी देशना की है, उनसे सुसंगतता नहीं रहनेसे, और दूसरे बाह्यदृष्टि जीवोंको अनेक प्रकारसे शंका और गलतफहमी उत्पन्न होनेका कारण मिलनेसे मार्गकी विराधना

होनेका संभव है। अतः उक्त निर्णय यथार्थ है। तथा उपदेशकके स्थानमें प्रवृत्ति कर रहे किसी भी जीवके लिये अत्यंत उपकारी मार्गदर्शनरूप है।

स्वयंकी दशाका उल्लेख करते हुए आगे कहते हैं कि मन बहुत उदास रहता है। तथापि बाह्य परिस्थिति ऐसी रहती है कि मनकी यह उदासीनता एकदम गुप्त रखी जाती है। व्यापार आदि प्रसंगकी उपाधिका बोझ चित्त सहन कर सके, ऐसी चित्तकी स्थिति नहीं है; फिर भी उपाधियोगका वेदन सम्यक् प्रकारसे रहता होनेसे मुख्यरूपसे और वास्तविकरूपसे तो आत्मा समाधि प्रत्ययी परिणमन करता है। ज्ञानीपुरुष अंतरंग परिणामोंको गुप्त रखकर आराधकभावमें रहते हुए प्रारब्धको किस प्रकार भोगते हैं - इसका यहाँ स्पष्ट दर्शन होता है।

४६५

बंबई, श्रावण वदी ५, १९४९

``**(निवृतिके लिये) किस क्षेत्रमें जाकर स्थिति करना, यह विचार अभी तक सूझ नहीं सका। विचारके परिणामकी स्वाभाविक परिणति प्रायः रहा करती है। उसे विशेषतासे प्रेरकता नहीं हो सकती।**''

``**आज दिवसपर्यंत अनेक प्रकारके उपाधियोगका वेदन करना हुआ है और यदि भगवत्कृपा न हो तो इस कालमें वैसे उपाधियोगमें धड़के ऊपर सिरका रहना कठिन हो जाये, ऐसा होते होते अनेक बार देखा है;**''

``**हम तो उस उपाधियोगसे अभी त्रास पाते रहते हैं, और उस उस योगमें हृदयमें और मुखमें मध्यमा वाचासे प्रभुका नाम**

रखकर मुश्किलसे कुछ प्रवृत्ति करके स्थिर रह सकते हैं। सम्यक्त्वमें अर्थात् बोधमें भ्रांति प्रायः नहीं होती, परन्तु बोधके विशेष परिणामका अनवकाश होता है, ऐसा तो स्पष्ट दिखायी देता है। और उससे आत्मा अनेक बार आकुलता-व्याकुलताको पाकर त्यागका सेवन करता था; तथापि उपार्जित कर्मकी स्थितिका समपरिणामसे, अदीनतासे, अव्याकुलतासे वेदन करना, यही ज्ञानीपुरुषोंका मार्ग है, और उसीका सेवन करना है, ऐसी स्मृति होकर स्थिरता रहती आयी है, अर्थात् आकुलादि भावकी होती हुई विशेष घबराहट समाप्त होती थी।''

``**जब तक दिन भर निवृत्तिके योगमें समय न बीते तब तक सुख न रहे, ऐसी हमारी स्थिति है। ``आत्मा आत्मा,'' उसका विचार, ज्ञानीपुरुषकी स्मृति, उनके माहात्म्यकी कथावार्ता, उनके प्रति अत्यंत भक्ति, उनके अनवकाश आत्मचारित्रके प्रति मोह, यह हमें अभी आकर्षित किया करता है, और उस कालकी हम रटन किया करते हैं।**''

``**आत्मस्वरूपमें भक्ति, चिन्तन, आत्मव्याख्याता ज्ञानीपुरुषकी वाणी अथवा ज्ञानीके शास्त्र या मार्गानुसारी ज्ञानीपुरुषके सिद्धांत, उसकी अपूर्वताको अतिभक्तिसे प्रणाम करते हैं। अखंड आत्मधुनके एकतार प्रवाहपूर्वक वह बात हमें अद्यापि भजनेकी अत्यंत आतुरता रहा करती है; और दूसरी ओरसे ऐसे क्षेत्र, ऐसा लोकप्रवाह ऐसा उपाधियोग और दूसरे दूसरे वैसे वैसे प्रकार देखकर विचार मूर्च्छावत् होता है।**''

उदयभावमें भी अकर्तारूपसे ज्ञानदशामें सहज परिणमन होता है। यह प्रकार उनके उक्त वचनोंमें प्रदर्शित होता है कि, निवृत्तिक्षेत्र सम्बन्धित बारम्बार विचारोंके परिणामोंकी स्वाभाविक परिणति रहा

करती है परन्तु प्रेरकरूप होकर ऐसे विचार नहीं हो सकते अर्थात् `विचरे उदय प्रयोग' ऐसी स्थितिका यहाँ पर दर्शन होता है।

पीछले डेढ़ सालमें बहुत प्रकारका उपाधियोग रहा है। यहाँ पर भाषा प्रयोग देखते हुए ऐसा लगता है कि व्यापार आदि प्रसंगोंमें अनेक प्रकारकी बड़े प्रमाणमें उथल-पुथल हुई होगी कि जिसमें निश्चय उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति करते-करते भी क्वचित् पुरुषार्थके परिणाम मंदताको प्राप्त हो जाय। कृपालुदेवको भी ऐसा स्पष्ट अनुभव यहाँ पर हो रहा है कि भगवत्कृपा यानी कि निजपरमात्माकी कृपा अर्थात् सहज आत्मिक पुरुषार्थ यदि नहीं होता तो ऐसे उपाधियोगमें ज्ञानदशासे च्युत हो जाय (धड़ पर सिर न रह सके। ऐसा होता हुआ (भूतकालमें) स्वयंने कई बार देखा है। यद्यपि खुदको तो वैसा नहीं हुआ, परन्तु दशाकी विशेषता होनेमें अंशतः आवरण आने जैसा होता है। इस प्रकारके उपाधियोगसे स्वयंको बहुत त्रास होता है। और इसलिये ऐसे प्रसंगोंमें हृदयमें यानी कि अंतरमें और बाह्य विकल्पमें भी आत्मस्वरूपकी सावधानी और सँभाल रखकर मुश्किलसे पुरुषार्थका प्रवर्तन करके स्थिर रह सकते हैं, आत्मबोध यथावत् बना रहता है। परन्तु आत्मज्ञानके विशेष परिणामोंका / विकासका अनवकाश होता है, ऐसा स्पष्ट अनुभवमें आता है। अतः आत्मामें आकुल-व्याकुलता होकर, इस प्रवृत्तिका त्याग करनेकी वृत्ति तीव्ररूपसे हो जाती है। तथापि खुदका ही उपार्जित कर्म होनेसे उस स्थितिका सम परिणामसे (-ज्ञाताभावसे), अदीनतासे (-पुरुषार्थपरायण रहकर), शांत भावसे वेदन करना - ऐसा जो ज्ञानीपुरुषोंका मार्ग, उसीका आराधन करना है - ऐसे स्मरणसे और निश्चयसे स्थिरता रहती है और उत्पन्न हुई आकुलता भी समाप्त होती है।

अंतरंग परिणामोंको व्यक्त करते हुए वे यहाँ लिखते हैं कि,

हम ऐसे अवसरकी भावना भाते हैं कि सम्पूर्ण निवृत्तिमें रहा जाय और एकांत आत्मभावरूप परिणमन करे; अथवा आत्माका ही विचार; आत्मारूप हुए हैं ऐसे ज्ञानीपुरुषोंकी अंतरदशाका स्मरण; उनके प्रचंड पुरुषार्थके माहात्म्यकी चर्चा; उनके प्रति अत्यंत भक्ति; और आत्मभावके अलावा दूसरा अवकाश नहीं है ऐसे उनके आत्मचारित्रके प्रति आकर्षण रहे, और ऐसे ही परिणामोंमें समय व्यतीत हो; - ऐसे कालकी अत्यंत आतुरतापूर्वक प्रतीक्षा करते हैं। अखण्ड आत्मधुनके एकतार प्रवाहपूर्वक अर्थात् आत्मस्वरूपकी खंडित न हो ऐसी धुन और संवेगयुक्त धारावाही परिणतिके प्रवाह पूर्वक ज्ञानीपुरुषोंकी आत्मव्याखारूप वाणी, और उनके सिद्धांतवचन, और उनके अपूर्व-अपूर्व भावोंको अति-अति भक्तिपूर्वक प्रणाम करते हैं। और वैसे ही परिणामप्रवाहमें रहनेकी आतुरता रहा करती है। परन्तु दूसरी ओर प्रवर्तमान द्रव्य, क्षेत्र, लोकस्थिति और अपने उदयको देखकर, इस भावना पर तीव्र प्रहार होता है और उक्त विचार मूर्च्छावत् हो जाता है।

इस पत्रमें उनकी आभ्यंतरदशामें, पूर्वोपार्जित कर्मोदयके सामने प्रचंड पुरुषार्थसे वे जूझ रहे हैं और भवच्छेद करके साधकदशामें विजयका ध्वज लहराते-लहराते मोक्षके प्रति आगे बढ़ रहे हैं - जोश पूर्वक आगे बढ़ रहे हैं। नमस्कार हो उनके परम प्रचंड पुरुषार्थको !

४६९

बंबई, भादों वदी ३०, १९४९

``आत्मरूपताके कार्यमें मात्र प्रवृत्ति होनेसे जगतके सर्व पदार्थोंके प्रति जैसी उदासीनता रहती है, वैसी आत्मीय गिने जानेवाले स्त्री आदि पदार्थोंके प्रति रहती है।''

``किसीके प्रति कुछ विशेष नहीं करना अथवा न्यून नहीं करना, और यदि करना हो तो वैसा एकसा वर्तन सर्व जगतके प्रति करना; ऐसा ज्ञान आत्माको बहुत समयसे दृढ़ है, निश्चयरूप है। किसी स्थलमें न्यूनता, विशेषता, अथवा कुछ वैसी सम-विषम चेष्टासे वर्तन दीखता हो तो जरूर वह आत्मस्थितिसे, आत्मबुद्धिसे नहीं होता, ऐसा लगता है। पूर्वप्रबन्धित प्रारब्धके योगसे कुछ वैसा उदयभावरूपसे होता हो तो उसमें भी समता है। किसीके प्रति न्यूनता या अधिकता कुछ भी आत्माको रुचिकर नहीं है, वहाँ फिर अन्य अवस्थाका विकल्प होना योग्य नहीं है।''

``सबसे अभिन्नभावना है; जिसकी जितनी योग्यता रहती है, उसके प्रति अभिन्नभावकी उतनी स्फूर्ति होती है; क्वचित् करुणाबुद्धिसे विशेष स्फूर्ति होती है; परन्तु विषमतासे अथवा विषय, परिग्रहादि कारणप्रत्ययसे उसके प्रति वर्तन करनेका आत्मामें कोई संकल्प प्रतीत नहीं होता। अविकल्परूप स्थिति है। विशेष क्या कहूँ ? हमें कुछ हमारा नहीं है, या दूसरेका नहीं है या दूसरा नहीं है, जैसे है वैसे है। आत्माकी जैसी स्थिति है, वैसी स्थिति है। सर्व प्रकारकी वर्तना निष्कपटतासे उदयकी है, सम-विषमता नहीं है। सहजानन्द स्थिति है।''

उनकी ज्ञानदशाके साथ-साथ प्रवर्तमान समदृष्टिका उल्लेख इस पत्रमें है। मुख्यरूपसे तो आत्मारूप परिणमन है, जिसके कारण जगतके सर्व पदार्थके प्रति उदासीनता रहती है। अर्थात् स्व-रूप माने जाते (जाने जाते नहीं) स्त्री-कुटुम्ब-परिजन आदिके प्रति उदासीनता रहती है। अथवा जैसी दृष्टि एवम् आत्महितकी इच्छा स्व-आत्माके प्रति है ऐसी ही दूसरे सर्व आत्माओंके प्रति हैं।

जिन-जिन आत्माओंके साथ प्रारब्ध सम्बन्धसे उदय है, उसकी

मर्यादामें उनके साथ प्रवृत्ति होती है; उसमें भी मुख्यरूपसे करुणाबुद्धिसे प्रवृत्ति होती है। किसीके भी प्रति न्यूनाधिक कुछ नहीं करना - ऐसा निश्चल ज्ञान आत्मामें शुरूसे ही है। तथापि कहीं सम-विषम चेष्टासे प्रवर्तन होता है तो वह आत्मबुद्धिसे नहीं होता, ऐसी ही आत्मस्थिति है। उदयभावमें होते वक्त भी भिन्नता रहती है, इसलिये भिन्नज्ञानमें ज्ञातारूप समभावसे रहना होता है। ऐसी समता होनेके कारण भी किसीके प्रति न्यूनता या अधिकता आत्माको नहीं सुहाती।

खुदके आत्मा जैसी ही आत्मकल्याणकी अभिन्न भावना सभीके लिये है। क्वचित् किसी जीवकी योग्यता अनुसार विशेष करुणाबुद्धिसे निर्मल प्रेम स्फुरित होता है। परन्तु वैसा प्रकार विषमताके कारण या किसी परिग्रह आदिकी स्पृहाके कारण नहीं होता। वैसे प्रकारमें तो अविकल्प स्थिति है, अर्थात् निर्विकल्प निस्पृहता रहती है। सूक्ष्म अपेक्षावृत्ति भी नहीं होती। क्योंकि हमें न तो कुछ हमारा है न दूसरेका, अर्थात् अपनत्व या परायापनका अभिप्राय सर्वथा मिट गया है। इसलिये समता विशेष है। उदयमें भी सर्व प्रकारकी प्रवृत्ति निष्कपटतासे / सरलतासे होती है। और परिणतिमें तो सहजानंद स्थिति है।

इस पत्रमें कृपालुदेवकी ज्ञानदशामय समदर्शिताका दर्शन होता है, और इसलिये उनके प्रति अति भक्तिभावसे हृदय झुक जाता है।

वर्ष २७वाँ

४८०

बंबई, पौष सुदी ५ १९५०

`किसी भी जीवको कुछ भी परिश्रम देना, यह अपराध है। और उसमें मुमुक्षुजीवको उसके अर्थके सिवाय परिश्रम देना, यह अवश्य अपराध है, ऐसा हमारे चित्तका स्वभाव रहता है। ...तथापि आपको वैसे प्रसंगमें क्वचित् परिश्रमका कारण हो, यह हमारे चित्तमें सहन नहीं होता; तो भी प्रवृत्ति करते हैं। यह अपराध क्षमा योग्य है।''

इस पत्रमें श्री अंबालालभाईके प्रति लोकोत्तर सज्जनताके भाव प्रदर्शित हुए हैं। सर्व ज्ञानीपुरुषोंका ऐसा व्यवहार होता है कि अपने कारणसे किसी भी जीवको कुछ भी परिश्रम दिया जाय तो वह अपराधके तुल्य लगता है; उसमें भी मुमुक्षुजीवको तो परिश्रम देना ही नहीं। ऐसा उनके चित्तका स्वभाव वर्त रहा है। तथापि अंबालालभाईको कोई प्रसंग पर क्वचित् परिश्रमका कारण हो तो वह उनके चित्तसे सहन नहीं होता; फिर भी प्रसंगवशात् वैसे प्रवर्तन हो रहा है, उसे स्वयंका अपराध गिनकर क्षमायाचना की है।

कृपालुदेवकी यह कोई गज़बकी लोकोत्तर सज्जनता है और वह सहज और स्वाभाविक है। पूर्ण निर्दोषताके ध्येयमें सूक्ष्म दोषकी भी अनुमोदना नहीं होती।

४८१

पौष वदी १, मंगल, १९५०

``आज यह पत्र लिखनेका हेतु यह है कि हमारे चित्तमें विशेष खेद रहता है। खेदका कारण यह व्यवहाररूप प्रारब्ध रहता है,

वह किसी प्रकारसे है, कि जिसके कारण मुमुक्षुजीवको क्वचित् वैसा परिश्रम देनेका प्रसंग आता है। और वैसा परिश्रम देते हुए हमारी चित्तवृत्ति संकोचवश होती-होती प्रारब्धके उदयसे रहती है। तथापि तद्विषयक संस्कारित खेद कई बार स्फुरित होता रहता है।''

इस पत्रमें भी उपरोक्त विषयका अनुसंधान है। श्री अंबालालभाईको क्वचित् परिश्रम देनेका प्रसंग बनता है, जिससे खुदके चितमें खेद रहता है। इस खेदका कारण व्यवहाररूप प्रारब्धका उदय रहता है, वह है। और ऐसे प्रसंगमें उनकी चित्तवृत्ति संकोचको प्राप्त होती हुई चलती है। ऐसे परिणामोंके वक्त भी भिन्न रहकर, तद्विषयक संस्कार प्राप्त खेद लंबे समय तक स्फुरित होता रहता है, अर्थात् सहजरूपसे खेद चालू रहा करता है, ऐसा मालूम पड़ता है।

-इसतरह बाह्यवृत्तिमें भी कृपालुदेवकी लोकोत्तर सज्जनताका गुण प्रमाणित होता है, साथ ही साथ उसी प्रकारके परिणामके वक्त उन परिणामोंकी सहजता (अकृत्रिमता) भी प्रदर्शित होती है। और उन-उन बाह्य परिणामोंका भिन्न ज्ञानमयदशासे अवलोकन करते हो, ऐसा अंतर ध्वनि उनकी उक्त वचन-रचना द्वारा व्यक्त होता है।

विशेष लक्ष्यमें लेने योग्य बात यह है कि, अपनी तरफसे अलौकिक, अपूर्व और महान उपकार जिस भवच्छेदक वाणीसे - मुमुक्षुके प्रति हो रहा है, उसकी तो उन्हें अंश मात्र भी गिनती नहीं होती है। परन्तु खुदकी वज़हसे मुमुक्षुको बाह्य परिश्रम लेना पड़े, उसका निषेध आ जाता है। इसीलिये कहा है कि;

`अहो! गुणवंत ज्ञानी! इस पंचमकालमें भी आपने अमृत वर्षा की है, और मुमुक्षुजीवोंको निहाल कर दिया है।''

४८२

बंबई, पौष वदी १४, रवि, १९५०

``अभी विशेषरूपसे लिखनेका नहीं होता, इसमें उपाधिकी अपेक्षा चित्तका संक्षेपभाव विशेष कारणरूप है। जैसे ज्वरादि रोगमें चित्तको कोई स्नेह नहीं होता, वैसे इन भावोंमें भी स्नेह नहीं रहता, लगभग स्पष्टरूपसे नहीं रहता, और उस प्रतिबंधके अभावका विचार हुआ करता है।''

कृपालुदेव वर्तमान परिणामकी स्पष्टता करते हुए लिखते हैं कि, इन दिनों विशेषरूपसे लिखना सहज नहीं होता। जिसका कारण संयोगकी उपाधि ही सिर्फ नहीं, परन्तु इससे मुख्य कारण लिखनेकी इच्छाके रूपमें चित्तका प्रवर्तन कम हो गया है, वह है। - वैसे भावोंमें स्नेहभाव नहीं वर्तता; जैसे ज्वरादि रोगमें सहज स्नेहभाव नहीं होता वैसा करीब-करीब स्पष्ट रहता है, और इसलिये उस प्रकारके प्रतिबंधका अभाव हो, ऐसा विचार रहा करता है।

तीव्र ज्ञानदशामें परिणमन करते हुए कृपालुदेवको मुमुक्षुओंके प्रति पत्रव्यवहारकी इच्छा भी कम हो गई है, और उस प्रकारके रागको भी एक प्रतिबंध जानकर, उससे रहित होनेके लिये, सहज पुरुषार्थका झुकाव रहा करता है। यद्यपि गुणस्थान अनुसार उदयभाव होना संभवित है, तथापि यथार्थरूपसे पूर्णताका लक्ष्य होनेसे धर्मात्माको सर्व प्रतिबंधसे रहित होनेका भाव रहे, यह स्वाभाविक है।

४८४

मोहमयी, माघ वदी ८, गुरु, १९५०

``यहाँके उपाधिप्रसंगमें कुछ विशेष सहनशीलतासे रहना पड़े, ऐसी ऋतु होनेसे आत्मामें गुणकी विशेष स्पष्टता रहती है।''

इन दिनोंमें व्यापारकी मौसम (कामकाजकी वृद्धि होना) विशेष परिमाणमें होनेसे, उपाधिका बोझा विशेषरूपसे सहन करके रहना पड़ता है। और इसलिए आत्मामें स्वभावपर्यायका विशेष स्पष्टपना अर्थात् अधिक पुरुषार्थ वर्त रहा है।

उक्त वचनामृत ऐसा दर्शाते हैं कि, जब-जब व्यापारिक उपाधि बढ़ जाती है तब-तब उनका पुरुषार्थ भी सहजरूपसे वृद्धिगतपनेको प्राप्त होता जाता है। अर्थात् बंधके निमित्तोंके सद्भावमें मोक्षके प्रति प्रगति होती है। धन्य आराधना !

४९१

बंबई, फागुन, १९५०

``सर्व प्रकारकी उपाधि, आधि, व्याधिसे मुक्तरूपसे रहते हों तो भी सत्संगमें रही हुई भक्ति दूर होना हमें दुष्कर प्रतीत होता है। सत्संगकी सर्वोत्तम अपूर्वता हमें अहोरात्र रहा करती है, तथापि उदययोग प्रारब्धसे ऐसा अंतराय रहता है। प्रायः किसी बातका खेद ``हमारे'' आत्मामें उत्पन्न नहीं होता, तथापि सत्संगके अंतरायका खेद प्रायः अहोरात्र रहा करता है। `सर्व भूमि, सर्व मनुष्य, सर्व काम, सर्व बातचीतादि प्रसंग अपरिचित जैसे, एकदम पराये उदासीन जैसे, अरमणीय, अमोहकर और रसरहित स्वभावतः भासित होते हैं।' मात्र ज्ञानीपुरुष, मुमुक्षु पुरुष, अथवा मार्गानुसारी पुरुषका सत्संग परिचित, अपना, प्रीतिकर, सुंदर, आकर्षक और रसस्वरूप भासित होता है। ऐसा होनेसे हमारा मन प्रायः अप्रतिबद्धताका सेवन करते करते आप जैसे मार्गेच्छावान पुरुषोंमें प्रतिबद्धताको प्राप्त होता है ''

यहाँ पर कृपालुदेवनेको स्वयंके परिणाममें सत्संगकी कितनी महिमा चल रही है, उसे प्रदर्शित किया है। उन्हें आधि, व्याधि

और उपाधि जैसे उदयभावोंसे मुक्तता रहती है। तथापि सत्संगकी सर्वोत्तमता निरन्तर रहती होनेसे और वह हृदयरूप होनेसे, सत्संगके प्रति अटल-अचल भक्तिभाव रहता है। उनके आत्माको सांसारिक कार्योंमें किसी भी बातका खेद उत्पन्न नहीं होता, परन्तु सत्संगके अंतरायका खेद निरंतर रहा करता है। इसलिये मुमुक्षुओं, मार्गानुसारी पुरुषों और धर्मात्माओंका सत्संग प्रीतिकर, आकर्षक, अपना, परिचित, रमणीय और रसस्वरूप भासित होता है; इसे छोड़कर सर्व क्षेत्र, सर्व मनुष्य, सर्व काम, और प्रसंग एकदम अपरिचित (परदेश जैसे), पराये, अरमणीय और उपेक्षा करने योग्य स्वाभाविकरूपसे लगनेसे उसमें कहीं रस नहीं आता। इस कारणसे स्वयंका मन सर्वत्र अप्रतिबद्धताका सेवन करता-करता, मार्गेच्छावान मुमुक्षुओंमें प्रतिबद्धताको प्राप्त होता है।

४९४

बंबई, चैत्र सुदी, १९५०

``जो वेदनीयादि कर्म हों उन्हें भोगनेकी हमें अनिच्छा नहीं होती। यदि अनिच्छा होती हो तो चित्तमें खेद होता है कि जीवको देहाभिमान है, जिससे उपार्जित कर्म भोगते हुए खेद होता है, और इससे अनिच्छा होती है।''

उक्त वचनामृतोंसे उनकी ज्ञानदशाकी विशेष प्रतीति आती है। क्योंकि जगतमें प्राणीको वेदनीय कर्म असातारूप उदयमान होनेपर, उसके प्रति खेद और अनिच्छा सहजरूपसे हो जाते हैं परन्तु ज्ञानदशाका यह अलौकिक परिणमन है कि अशाता वेदनीयको भोगते हुए भी स्वयंको अनिच्छा नहीं होती। कदापि अल्प अनिच्छा हो जाये तो चित्तमें खेद होता है। वह इस प्रकारसे कि, इतना भी

देहके प्रति झुकाव रहता है, इसलिये उपार्जित कर्मोंको भोगते हुए खेद होता है, जो होना ठीक नहीं है। इसप्रकारसे इसका बहुत ज़ोरसे निषेध आता है। भूमिकानुसार अल्पदोषके परिणाम होने पर भी ज्ञानीपुरुषोंको वह निषेध सहित होते हैं - अनुमोदन सहित नहीं होते। ज्ञानदशाकी ऐसी विलक्षणताका मुमुक्षुजीवको अवगाहन करने योग्य है।

४९५

बंबई, **चैत्र वदी ११, मंगल, १९५०**

``मुझे अपने दोषके लिये वारंवार ऐसा लगता है कि जिस दोषका बल परमार्थसे देखते हुए मैंने कहा है; परन्तु अन्य आधुनिक जीवोंके दोषके सामने मेरे दोषकी अत्यन्त अल्पता लगती है। यद्यपि ऐसा माननेकी कोई बुद्धि नहीं है, तथापि स्वभावसे कुछ ऐसा लगता है। फिर भी किसी विशेष अपराधीकी भाँति जब तक हम यह व्यवहार करते हैं तब तक अपने आत्मामें संलग्न रहेंगे।''

इस पत्रमें भी प्रमाद दोष जैसे अल्प दोषका भी अत्यंत ज़ोरसे निषेध व्यक्त हुआ है। अपने दोषकी बलवत्तरता प्रदर्शित करनेमें सिर्फ उनका पारमार्थिक दृष्टिकोण है। यानी कि अल्पदोषको भी खेद सहित, मुमुक्षुजीवके आगे भी उसका निवेदन करना, यह अत्यंत-अत्यंत अलौकिक सरलताके बिना, इस प्रकारकी उच्च कोटिके परिणाम असंभवित हैं। यद्यपि वर्तमान दूसरे जीवोंकी बराबरीमें खुदके दोषकी अत्यंत अल्पता है, इसलिये ऐसा लगता है; तथापि ऐसा माननेकी बुद्धि नहीं है, यानि कि निम्नकोटिके जीवोंके दोष पर दृष्टि नहीं है, परन्तु स्वाभाविकरूपसे जैसा है वैसा लगता है। और वैसा ही व्यक्त करते हैं। फिर भी जब तक व्यवहारमें बैठे हैं तब

तक अंतरंगकी अपेक्षा तो किसी विशेष अपराधीकी भाँति अपने दोषके बारेमें खेद होता ही रहेगा - ऐसी जो आत्माकी सहज स्थिति, वही उस दोषकी निवृत्तिका सहज कारण साधन है।

यह स्वभाव दृष्टिका लक्षण है। स्वभावदृष्टि वह गुणदृष्टि है। अतः उसमें खुदका अल्प दोष भी सम्मत नहीं होता।

५००

बंबई, वैशाख सुदी ९, रवि, १९५०

``यहाँ उपाधिरूप व्यवहार रहता है। प्रायः आत्मसमाधिकी स्थिति रहती है। तो भी उस व्यवहारके प्रतिबंधसे छूटनेका वारंवार स्मृतिमें आया करता है। उस प्रारब्धकी निवृत्ति होने तक तो व्यवहारका प्रतिबंध रहना योग्य है, इसलिये समचित्तपूर्वक स्थिति रहती है।''

परम कृपालुदेवको बंबईमें उपाधिरूप व्यवहार वर्तता है, फिर भी प्रायः यानी कि मुख्यरूपसे आत्मसमाधिकी स्थिति रहती है। ऐसी स्थिति अंतरंगमें होने पर भी बारंबार व्यवहारके प्रतिबंधसे छूटनेका स्मरण आता रहता है। ज्ञानदशामें अंतर-बाह्य एक आत्माकार स्थितिकी भावना रहनेके कारण, बाह्य निवृत्तिकी इच्छाका उत्पन्न होना सहज और स्वाभाविक है। यद्यपि प्रारब्धकी निवृत्ति न हो तब तक व्यवहारका प्रतिबंध रहेगा - ऐसा सम्यक्ज्ञानमें मालूम होने पर चित्तकी समभाववरूप स्थिति रहती है।

उक्त प्रकारसे कथंचित् परस्पर विरुद्ध भाव चलनेके बावजूद भी परमार्थकी अपेक्षा उसकी अविरुद्धता है। जिसकी भेदरेखा अत्यंत सूक्ष्म है। परन्तु ज्ञानदशाकी सहज विचक्षणतामें उसका मालूम होना संभवित है। आत्मार्थी जीवको आत्महितार्थ इसका अवलोकन करने

योग्य है।

``इस संसारके विषम एवं भयंकर स्वरूपको देखकर हमें उससे निवृत्ति होनेका बोध हुआ, जिस बोधसे जीवमें शांति आकर समाधिदशा हुई; वह बोध इस जगतमें किसी अनंत पुण्यके योगसे जीवको प्राप्त होता है, ऐसा महात्मापुरुष पुनः पुनः कह गये हैं। इस दुःषमकालमें अंधकार प्रगट होकर बोधका मार्ग आवरण-प्राप्त हुए जैसा हुआ है। इस कालमें हमें देहयोग मिला, यह किसी प्रकारसे खेद होता है, तथापि परमार्थसे उस खेदका भी समाधान होता रहा है।''

इस जगह स्वयंको आत्मबोध हुआ है, उसका स्पष्ट उल्लेख देखने मिलता है। इस आत्मबोधकी विशेषता दिखाते हुए लिखते हैं कि विषम और भयंकर (दुःखदायक) ऐसे इस संसारका स्वरूप देखकर, इसकी निवृत्ति हेतु यह आत्मबोध हुआ है; और इस बोधकी प्राप्तिसे जीवमें शांति आयी है, समाधिदशा हुई है, अर्थात् सर्व प्रकारकी उलझन और असमाधान मिटे हैं। ऐसी जो बोधरूपदशा, वह इस जगतमें किसी जिवको अनन्त पुण्य योगसे प्राप्त होती है अर्थात् तथारूप पुरुषार्थ और काललब्धिसे प्राप्त होती है - ऐसा अनेक महात्मा पुरुषोंने कहा है। वर्तमान दुःषमकालमें गाढ़ अज्ञान अंधकार व्याप्त है, जिसके कारण आत्मबोधके उपायको आवरण आ गया है। ऐसी परिस्थितिमें हमारा यहाँ जन्म लेना हुआ, यह व्यवहारसे अनुकूल नहीं होनेसे, खेदका कारण होता है। तथापि परमार्थ हेतु आत्मलाभकी मुख्यतासे उसका समाधान रखा है; और वह मुख्य वृत्ति है।

५०४

बंबई, वैशाख, १९५०

`मनका, वचनका तथा कायाका व्यवसाय जितना चाहते हैं, उसकी अपेक्षा इस समय विशेष रहा करता है। और इसी कारणसे आपको पत्रादि लिखना नहीं हो सकता। व्यवसायके विस्तारकी इच्छा नहीं की जाती है, फिर भी वह प्राप्त हुआ करता है। और ऐसा लगता है कि वह व्यवसाय अनेक प्रकारसे वेदन करने योग्य है, कि जिसके वेदनसे पुनः उसका उत्पत्तियोग दूर होगा, निवृत्त होगा। कदाचित् प्रबलरूपसे उसका निरोध किया जाये तो भी उस निरोधरूप क्लेशके कारण आत्मा आत्मरूपसे विस्त्रसापरिणामकी तरह परिणमन नहीं कर सकता, ऐसा लगता है। इसलिये उस व्यवसायकी अनिच्छारूपसे जो प्राप्ति हो, उसे वेदन करना, यह किसी प्रकारसे विशेष सम्यक् लगता है।

कृपालुदेवके स्वयंके अनुमानसे भी विशेष मन, वचन, कायाकी प्रवृत्ति हो रही है और उस वज़हसे दूसरी-पत्रादि लिखनेकी-बाह्य प्रवृत्ति नहीं हो पाती। व्यवसायकी वृद्धि हो, ऐसी स्वयंकी चाहना नहीं होने पर भी - अनिच्छा होने पर भी, व्यवसायकी वृद्धि होती जा रही है। और उस विषयमें स्वयंके परिणाम, आराधकभावका त्याग नहीं करते हुए, सम्यक् प्रकारसे व्यवसायके उदयका वेदन कर लेना उचित समझते हैं, कि जिस प्रकारके वेदनसे पूर्व निबंधन छूटकर आगामी कालमें उसकी उत्पत्तिका योग मिट जाय।- इस तरह पूर्वकर्मका सम्यक् प्रकारसे वेदन कर लेनेका कृपालुदेवका विलक्षण प्रकार है, जो कि अनुकरणीय है।

एक दूसरे पहलूका स्पष्टीकरण भी यहाँ देखने मिलता है कि यदि हठसे उस व्यवसायका त्याग किया जाय तो भी, उस

हठके क्लेशित परिणामकी वज़हसे आत्मा स्वाभाविक `आत्मारूप' परिणमन नहीं कर सकता। और इससे प्रायः पुण्यबंध होता है, परन्तु हठ परिणामसे सम्यक् प्रकारसे निर्जरा नहीं होती। अतः उस व्यवसायकी अनिच्छासे जो प्राप्ति हो उसे - भिन्न रहकर, ज्ञानमय दशासे वेदन कर लेना - यह प्रकार उन्हें विशेष सम्यक् लगा है और वैसे ही प्रवर्तन किया है।

अज्ञानदशामें हठयोगसे त्याग करने पर, मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं होनेसे, पारमार्थिक लाभ नहीं होता। परन्तु प्रायः कर्ताबुद्धिसे किये गये त्यागसे दर्शनमोहकी तीव्रता बढ़ती होनेसे नुक़सान होता है। ज्ञानीपुरुषको सम्यक्ज्ञान होनेसे, इस प्रकारका विपर्यास असंभवित है। अलौकिक विचक्षणता एवम् विलक्षण प्रकारसे पूर्व प्रारब्ध कर्मकी निवृत्ति, आराधकभाव सहित कैसे हो, उसका दर्शन कृपालुदेवके परिणमनमें होता है। उनका जीवन-दर्शन मुमुक्षुजीवको महा उपकारी होकर परिभ्रमणका अंत ला दे वैसा है।

✻

५०८

बंबई, जेठ सुदी १४, रवि, १९५०

``चित्तमें उपाधिके प्रसंगके लिये वारंवार खेद होता है कि यदि ऐसा उदय इस देहमें बहुत समय तक रहा करे तो समाधिदशाका जो लक्ष्य है वह जैसेका तैसा अप्रधानरूपसे रखना पड़े, और जिसमें अत्यंत अप्रमादयोग जरूरी है, उसमें प्रमादयोग जैसा हो जाये।'' ``कदाचित् वैसा न हो तो भी यह संसार किसी प्रकारसे रुचियोग्य प्रतीत नहीं होता; प्रत्यक्ष रस रहित स्वरूप ही दिखायी देता है;''

``वारंवार संसार भयरूप लगता है। भयरूप लगनेका दूसरा कोई कारण प्रतीत नहीं होता, मात्र इसमें शुद्ध आत्मस्वरूपको अप्रधान

रखकर प्रवृत्ति होती है, जिससे बड़ी परेशानी रहती है, और नित्य छूटनेका लक्ष्य रहता है। तथापि अभी तो अंतरायका सम्भव है, और प्रतिबंध भी रहा करता है। तथा तद्नुसारी दूसरे अनेक विकल्पोंसे कटु लगनेवाले इस संसारमें बरबस स्थिति है।''

उक्त वचनामृतोंमें संसारकी नीरसता सम्बन्धित अपने परिणामोंका हूबहू बयान किया है। साथ ही साथ उस विषयकी वास्तविकता और विशेषताएँ भी देखने मिलती हैं। चित्तमें उपाधिप्रसंगके लिये वारंवार जो खेद होता है, वह इस कारणसे होता है कि, ऐसे ही उदयमें यदि बहुत लँबे समय तक उपयोग देना पड़ा तो, अंतरंगमें चल रही जो समाधिदशारूप परिणतिमें जो आत्मलक्ष है, वह ऐसा का ऐसा लँबे समय तक परिणतिरूप ही रहे, और यदि उपयोगात्मक न हुआ तो परिणतिमें भी अप्रधानता आ जाय और अत्यंत प्रमाद अथवा आत्मजागृत्तिकी न्यूनता जैसा हो जाय, जो किसी भी प्रकारसे इच्छनीय नहीं है।

कदापि ऐसा होनेकी संभावना नहीं है फिर भी खुदके इस संसारमें कोई भी प्रकार पदार्थ रुचिकर नहीं लगता, इसलिये संसारका स्वरूप तो प्रत्यक्षरूपसे रसरहित अनुभवमें आता है। तथापि इस संसारका एक अपेक्षासे भय भी लगता है, कि इस महान् शुद्धात्मस्वरूपको गौण रखना पड़ता है और प्रवृत्तिमें उदयभाव मुख्य होता है, जिससे बड़ा त्रास वर्तता है। अर्थात् इस प्रकारके बाह्य जीवनसे स्वयं बहुत ऊब चुके हैं, अतः नित्य छूटनेका लक्ष रहता है तथापि अनेक प्रकारसे उसमें प्रतिबंध और अंतराय होनेसे, कटु लग रहे इस संसारमें बरबस रहना हो रहा है।

आत्मकार्यको प्रतिबंधरूप ऐसी जो सांसारिक प्रवृत्ति, इससे शीघ्र छूटनेकी उनकी भावनाका यहाँ पर दर्शन होता है।

५१४

बंबई, श्रावण सुदी १४, बुध १९५०

``निःसारताको अत्यन्तरूपसे जाननेपर भी व्यवसायका प्रसंग आत्मवीर्यकी कुछ भी मन्दताका हेतु होता है, फिर भी वह व्यवसाय करते हैं। आत्मासे जो सहन करने योग्य नहीं है उसे सहन करते हैं।''

कृपालुदेवने आत्मदृष्टिसे व्यवसायकी अत्यंत निःसारता जानी है, फिर भी वह प्रवृत्ति की जा रही है, और इसलिए पुरुषार्थका कुछ अंश उसमें प्रवर्त रहा होनेसे आत्मवीर्यको कुछ अंशमें मन्दताका हेतु होता है, यह प्रकार स्वयंके आत्माके लिए असहनीय है; फिर भी परवशतासे सहन करते हैं।

सिद्धांतमें `ज्ञानीकी बाह्य प्रवृत्ति हेयबुद्धिसे होती है' - यह बात प्रसिद्ध है। यहाँ इस प्रकारके परिणमनका स्पष्ट दर्शन होता है।

५१७

बंबई, श्रावण वदी ७, गुरु, १९५०

``सबसे अप्रतिबद्धदशामें लक्ष्य रखकर प्रवृत्ति है, तो भी सत्संगादिमें अभी हमें भी प्रतिबद्धबुद्धि रखनेका चित्त रहता है ''

पूर्णताके ध्येयका अनुसरण करके, उनकी प्रवृत्ति सर्वसे अप्रतिबद्धता हो, इस लक्ष्यसे होती है; तथापि वर्तमान भूमिका अनुसार उपयोग अनिवार्यरूपसे बाहर जाता होनेसे उस उपयोगको सत्संगमें प्रतिबद्ध रखनेका चित्त रहता है कि जिससे अन्य संगसे सहज दूर हुआ जाय।

सविकल्पदशा रहे तब तक ज्ञानीपुरुष भी अन्यसंगसे विरक्त रहकर, सत्संगमें रहनेका विवेक करते हैं; जो योग्य ही है।

५२०

बंबई, श्रावण वदी ३०, गुरु, १९५०

``यदि किसी भी प्रकारसे आपको उनका समाधान लिखा जाये तो ठीक, ऐसा चित्तमें रहते हुए भी उदययोगसे वैसा नहीं हो पाता। पत्र लिखनेमें चित्तकी स्थिरता बहुत ही कम रहती है। अथवा चित्त उस कार्यमें अल्प मात्र छाया जैसा प्रवेश कर सकता है। ....चित्तकी स्थितिके कारण एक एक पत्र लिखते हुए दस-दस, पाँच-पाँच बार, दो-दो चार-चार पंक्तियाँ लिखकर उस पत्रको अधूरा छोड़ देना पड़ता है। क्रियामें रुचि नहीं है, और अभी प्रारब्ध बल भी उस क्रियामें विशेष उदयमान नहीं होनेसे आपको (श्री सौभाग्यभाई) तथा अन्य मुमुक्षुओंको विशेषरूपसे कुछ ज्ञानचर्चा नहीं लिखी जा सकती। इस विषयमें चित्तमें खेद रहता है, तथापि अभी तो उसका उपशम करनेका ही चित्त रहता है। अभी कोई ऐसी ही आत्मदशाकी स्थिति रहती है। प्रायः जान-बूझकर कुछ करनेमें नहीं आता, अर्थात् प्रमाद आदि दोषके कारण वह क्रिया नहीं होती, ऐसा प्रतीत नहीं होता।''

ज्ञानवार्ता सम्बन्धी मुमुक्षुओंके साथ पत्रव्यवहार करनेके लिये उनके परिणाम सहज प्रकारसे, अंतरंग अध्यात्मदशाके कारण कितने सूक्ष्म रूपसे चलते थे, उसका हूबहू बयान उक्त वचनामृतमें प्रदर्शित हुआ है।

ज्ञानवार्ता सम्बन्धी उपकारभूत हो वैसे प्रश्नों श्री सौभाग्यभाईने लिखें हैं और उसके समाधानकी श्री सौभाग्यभाई इच्छा रखते हैं, इसलिये वैसे प्रश्नोंके उत्तररूप समाधान लिखा जाय तो अच्छा, ऐसी भावना होने पर भी, उदययोगके कारण ऐसा नहीं बन पाता, परंतु इसके अलावा पत्र लिखनेमें चित्त स्थिर नहीं रह पाता है,

यानी कि अध्यात्मदशाकी तारतम्यता विशेषके कारण, लिखनेके विषयमें चित्तका प्रवेश अल्प मात्र छाया जितना हो सकता है। ऐसी ही कोई अध्यात्मदशाकी विशेष स्थिति है। जिसके कारण एक-एक पत्र लिखते हुए पाँच-पाँच, दस-दस बार उस पत्रको अधूरा छोड़ देना पड़ता है। और उस कार्यमें उपयोग न चले ऐसा बनता है। इसलिये प्रत्युत्तर नहीं लिख सकते हैं, उसका खेद रहता है। यद्यपि ऐसे कार्योंकी रुचि नहीं है। साथ ही साथ (भिन्न पड़ गये ज्ञानमें) प्रारब्धबल भी उस क्रियामें विशेष उदयमान नहीं दिखनेसे, दूसरे मुमुक्षुओंको भी ज्ञानचर्चा लिख नहीं सकते। मुमुक्षुओंको उपकारभूत ऐसे इस कार्यकी प्रवृत्ति नहीं होनेसे, इस कारण खेद रहेता है। परन्तु उस खेदको भी उपशम करना, वह उचित समझा है। इसलिये प्रमादके कारण या जानबूझकर वह कार्य नहीं होता हो, ऐसा नहीं लगता। परन्तु सहजरूपसे (उदीरणा नहीं करके) बाह्य प्रवृत्तिमें प्रवृत्ति करनेका अभिप्राय है - ऐसा समझने योग्य है।

``जो बलवान कारण प्रभावना हेतुके अवरोधक हैं, उनमें हमारा बुद्धिपूर्वक कुछ भी प्रमाद हो, ऐसा किसी तरह सम्भव नहीं है। तथा अव्यक्तरूपसे अर्थात् न जानने पर भी जो सहजमें जीवसे हुआ करता हो, ऐसा प्रमाद हो, यह भी प्रतीत नहीं होता। तथापि किसी अंशमें उस प्रमादका सम्भव समझते हुए भी उससे अवरोधकता हो, ऐसा लग नहीं सकता; क्योंकि आत्माकी निश्चयवृत्ति उससे असन्मुख है।''

``लोगोंमें वह प्रवृत्ति करते हुए मानभंग होनेका प्रसंग आये तो वह मानभंग भी सहन न हो सके, ऐसा होनेसे प्रभावना हेतुकी उपेक्षा की जाती हो, ऐसा भी नहीं लगता। क्योंकि उस मानामानमें चित्त प्रायः उदासीन जैसा है, अथवा उस प्रकारमें चित्तको विशेष

उदासीन किया हो तो हो सके ऐसा है।''

``शब्दादि विषयोंका कोई बलवान कारण भी अवरोधक हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। केवल उन विषयोंका क्षायिकभाव हैं, ऐसा यद्यपि कहनेका प्रसंग नहीं है, तथापि उनमें अनेकरूपसे विरसता भास रही है। उदयसे भी कभी मंद रुचिका जन्म होती हो तो वह भी विशेष अवस्था पानेसे पहले नाशको प्राप्त होती है; और उस मंद रुचिका वेदन करते हुए भी आत्मा खेदमें ही रहता है, अर्थात् वह रुचि अनाधार होती जाती होनेसे बलवान कारणरूप नहीं है।''

धर्म-प्रभावनाकी बाह्य प्रवृत्ति बाबत श्री सौभाग्यभाई एवम् श्री डुंगरशीभाईका अनुरोध होने पर भी वैसी प्रवृत्ति नहीं करनेमें कुछ एक बलवान कारणोंका सम्बन्ध है। उसका स्पष्टीकरण उक्त वचनामृतोंमें किया है।

जो बलवान कारण प्रभावनाकी प्रवृत्तिमें अवरोधक हैं, उन कारणोंमें स्वयंका बुद्धिपूर्वक प्रमाद नहीं है या अबुद्धिपूर्वक प्रमाद चल रहा हो, ऐसा नहीं लगता। कदापि वर्तमान गुणस्थान अनुसार किसी भी अंशमें प्रमाद गिने और उसे गिनतीमें लेने पर, उससे कोई प्रभावनाके हेतुको अवरोधकता होती हो, ऐसा नहीं लगता। क्योंकि आत्माकी निश्चयवृत्ति अर्थात् अध्यात्म परिणति आत्मसन्मुख है और बाह्य प्रवृत्तिसे विमुख है, और वह योग्य ही है।

लोगोंमें वह प्रवृत्ति करते हुए मानभंग होनेका प्रसंग आये और वह सहन न हो सके, इस वज़हसे भी प्रभावना-प्रवृत्तिकी उपेक्षा की जाती हो, ऐसा स्वयंको नहीं लगता। क्योंकि मान-अपमानके विषयमें चित्तमें उदासीनता है, अर्थात् मान-अपमानका कोई मूल्य नहीं है; और उस प्रकारमें विशेष उदासीनता बढ़ानेकी शक्ति खुदमें है - ऐसा आत्मविश्वास भी रहता है।

इसके अलावा शब्दादि किसी भी विषयके प्रति बलवान आकर्षण या बाह्यजीवनमें कोई टेव-कुटेव भी प्रभावना-प्रवृत्तिमें अवरोधक हो, ऐसा स्वयंको मालूम नहीं होता। यद्यपि सरागीता होनेसे क्षायिकभावसे पूर्ण वीतरागता है - ऐसा यहाँ पर कहना नहीं चाहते; परन्तु बाह्य विषयोंमें अत्यंत नीरसता लगती है। उदयकालमें कभी मंद रस उत्पन्न होता है, तथापि वह रस वृद्धिगत् अवस्थामें प्रवेश करे इसके पहले ही नष्ट होता है। - ऐसी सहज पुरुषार्थकी स्थिति रहती है। ऐसा होने पर भी इतने अल्प रसका भी आत्माको खेद रहता है। इसलिये उस रुचिको आत्माका आधार नहीं मिलनेसे वह टूटती जाती है, अतः यह भी धर्म-प्रभावना-प्रवृत्तिमें बलवान अवरोधक कारणरूप नहीं है।

इसतरह धर्म-प्रभावक दूसरे पुरुषोंसे विचारदशा और अध्यात्मदशा असाधारण बलवान होने पर भी पारमार्थिक (अवरोधक) कारणोंकी वज़हसे और उस विषयमें उनकी गहरी विचक्षणताके कारण उनका समष्टिगत्‌रूपसे धर्मप्रभावनाकी प्रवृत्तिमें आना नहीं हुआ; ऐसा स्पस्टीकरण, अपने परिणामोंकी सूक्ष्म अवलोकनाको विदित करके, इस पत्रमें व्यक्त किया है।

उनके सूक्ष्म सम्यक्‌ज्ञानपूर्वक चल रहे अवलोकन द्वारा, स्वयंके परिणमोंके अनेक पहलू - सहजता, सरलता, सैद्धांतिक विचारणा, तत्सबंधित अभिप्रायका झुकाव, उपयोगकी प्रवृत्ति सूक्ष्म दोषोंका निवेदन एवम् बाह्य संयोगोंका अनुसरण करके यथार्थरूपसे आचरण कर रहा विवेक, इत्यादि व्यक्त हुए हैं। और उसमेंसे अनेक प्रयोजनभूत विषयोंका बोध मुमुक्षुजीवको ग्रहण करने योग्य प्राप्त होता है। यह उनका मुमुक्षु जगत पर अनुपम उपकार है।

५२३

बंबई, भादों सुदी ४, सोम, १९५०

``अनेक जीवोंकी अज्ञान दशा देखकर, फिर वे जीव `हम कल्याण करते हैं' अथवा `हमारा कल्याण होगा; ऐसी भावना या इच्छासे अज्ञानमार्गको प्राप्त होते हुए देखकर, उसके लिये अत्यंत करुणा उद्भव होती है, और किसी भी प्रकारसे यह दूर करने योग्य है, ऐसा हो जाता है; अथवा वैसा भाव चित्तमें जैसेका तैसा रहा करता है, तथापि वह होने योग्य होगा, उस प्रकारसे होगा, और जिस समय वह प्रकार होने योग्य होगा उस समय होगा, ऐसा प्रकार भी चित्तमें रहता है; क्योंकि उस करुणाभावका चिन्तन करते करते आत्मा बाह्य माहात्म्यका सेवन करे ऐसा होने देना योग्य नहीं है; और अभी कुछ वैसा भय रखना योग्य लगता है। अभी तो प्रायः दोनों प्रकारोंका नित्य विचार करनेमें आता है, तथापि बहुत समीपमें उसका परिणाम आनेका सम्भव प्रतीत न होनेसे सम्भवतः आपको लिखा या कहा नहीं है।''

``हमें वर्तमानमें वैसा उदय नहीं है; परन्तु हमारा आत्मपरिणाम उस उदयको अल्प कालमें दूर करनेकी ओर है, अर्थात् उस उदयकी कालस्थितिका किसी भी प्रकारसे बलवानरूपसे वेदन करनेसे वह घटती हो तो उसे घटानेमें रहता है। बाह्य माहात्म्यकी इच्छा आत्माको बहुत समयसे नहीं जैसी ही हो गयी है, अर्थात् बुद्धि प्रायः बाह्य माहात्म्यकी इच्छा करती हुई प्रतीत नहीं होती, ऐसा है। तथापि बाह्य माहात्म्यसे जीव सहज भी परिणामभेद प्राप्त न करे ऐसी स्वास्थामें कुछ न्यूनता कहने योग्य है, और उससे जो कुछ भय रहता है वह रहता है, जिस भयसे तुरत मुक्ति होगी, ऐसा लगता है ''

परमकृपालुदेवको, अनेक जीवोंकी वर्तमान अज्ञानदशा देखकर और वे अज्ञानतामें - आत्मकल्याणकी भावनासे, अकल्याण हो उस प्रकारसे - प्रवर्तमान देखकर, विशेष अज्ञानताको प्राप्त होते हुए देखकर, उन लोगोंके लिये अत्यंत करुणा छूटती है। समाजके धार्मिक परिवारके प्रति उनका यह हृदय है। किसी भी तरह इस प्रकारको मिटानेका भाव वारंवार हो आता है, और वैसा नहीं हो पाता है, यह देखकर वह भाव उनके चित्तमें जैसाका तैसा बना रहता है। सहजरूपसे कुछ हो तो भले ही हो, परन्तु उदिरणा करके वैसी बाह्य धर्म प्रवृत्ति करनेका अभिप्राय नहीं होनेसे - जो होने योग्य होगा और जब होने योग्य होगा तब वैसा होगा, ऐसा समाधान भी चित्तमें रहता है; क्योंकि धर्म प्रभावना करते हुए करुणाभावकी चिंतवनाके साथ-साथ अपना बाह्य समाजमें माहात्म्य बढ़े और आत्माको किसी भी अंशमें (चारित्रकी अपेक्षा) ठीक लगे, ऐसा होने देना उचित नहीं है। और उस विषयमें अभी भी कुछ मात्रामें भय रखना उचित लगता है। अर्थात् उपदेशकपनाका मान किसी भी तरह सेवन न हो, ऐसी बलवान दशा प्राप्त करके उपदेशप्रवृत्ति करना उचित है, ऐसा उनके विचारमें है। धर्मप्रभावना और व्यापार इत्यादि बाह्य त्याग - इन दोनों प्रकारका इन दिनों तो विचार रहता है; तथापि उसका कोई परिणाम नज़दीकी भविष्यमें आना संभवित न होनेसे, वह बात नहीं लिखी है। स्वयंको वर्तमानमें ऐसा (उपदेशक और त्यागीपनका) उदय नहीं है। परन्तु उनके आत्मपरिणाम वर्तमान व्यावसायिक प्रवृत्तिके उदयको अल्प कालमें मिटानेकी दिशामें प्रयत्नवंत है, अर्थात् उग्र पुरुषार्थपूर्वक वर्तमान उदयका सम्यक् प्रकारसे वेदन करनेसे, उदयकी स्थिति घटानेके लिये प्रवर्तन करते हैं। इसतरह बाहरमें प्रयत्न करनेके बजाय, वे प्रथम अंतरंगमें बलवान दशा प्राप्त करनेके प्रयत्नमें लगे हुए हैं,

ऐसा इस परसे समझमें आता है।

उन्हें बाह्य माहात्म्यकी इच्छा तो बहुत समयसे नहींवत हो चुकी है, अतः उनके अवलोकनमें बुद्धि बाह्य माहात्म्यको चाहती हो ऐसा नहीं लगता; तथापि धार्मिक समाजका मान मिलने पर तनिकसा भी परिणामभेद न हो, ऐसी बलवान स्थितिमें कुछ अंशमें न्यूनता खुदको दिखती है; जिसे यहाँ पर व्यक्त की है। और इसलिये वह दोष वृद्धिगत् न हो, ऐसा भय रहता है कि जिस भयसे तुरंत ही मुक्ति होगी और बलवान दशाकी प्राप्ति होगी; इस तरह अपने पुरुषार्थसे वे आगे बढ़ रहे हैं; ऐसा भी मालूम पड़ता है।।

वर्तमान दशाका दोष और उस दोषको टालनेका अंतर पुरुषार्थ - इन दोनों प्रकारके परिणामोंकी सूक्ष्म अवलोकना द्वारा हुई अभिव्यक्तिका दर्शन उक्त वचनामृतोंमें होता है। शासनके अज्ञानमें चल रहे, कल्याण वांछक जीवोंके प्रति उनकी करुणासभर चिंतवना होने पर भी, उनका निजहितमें उपयोग किस प्रकार प्रवृत्ति कर रहा है ! - उसका आत्मकल्याणको चाहनेवाले और साथ ही बाह्य धर्म-प्रवृत्ति कर रहे आत्मार्थी जीवको - ध्यान खींचे ऐसा अमूल्य मार्गदर्शन, परमकृपालुदेवके उक्त वर्तनसे, सहज ही मिलता है। और उनकी उक्त वचनामृतकी उपकारितासे उनके चरणमें मस्तक झुक जाता है।

निश्चयसे निश्चय-अर्थकी अपूर्व योजना तो सत्पुरुषके अन्तरमें निहित है।
(कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी)

वर्ष २८वाँ

५४७

मोहमयी क्षेत्र, मार्गशीर्ष वदी ८, बुध, १९५१

``सर्व व्यवहारसे निवृत्त हुए बिना चित्त एकाग्र (स्थिर) नहीं होता, ऐसे अप्रतिबंध - असंगभावका चित्तमें बहुत विचार किया होनेसे उसी प्रवाहमें रहना होता है। परन्तु उपार्जित प्रारब्ध निवृत्त होनेपर वैसा हो सके, इतना प्रतिबंध पूर्वकृत है, आत्माकी इच्छाका प्रतिबंध नहीं है। सर्व सामान्य लोकव्यवहारकी निवृत्ति सम्बन्धी प्रसंगके विचारको दूसरे प्रसंगपर बताना रखकर, इस क्षेत्रसे निवृत्त होनेका विशेष अभिप्राय रहता है; वह भी उदयके कारण नहीं हो सकता। तो भी अहर्निश यही चिन्तन रहता है, तो वह कदाचित् थोड़े समयमें होगा ऐसा लगता है। इस क्षेत्रके प्रति कुछ द्वेष परिणाम नहीं है, तथापि संगका विशेष कारण है। प्रवृतिके प्रयोजनके बिना यहाँ रहना कुछ आत्माके लिये वैसे लाभका कारण नहीं है, ऐसा जानकर, इस क्षेत्रसे निवृत्त होनेका विचार रहता है। प्रवृत्ति भी निजबुद्धिसे किसी भी प्रकारसे प्रयोजनभूत नहीं लगती, तथापि उदयके अनुसार प्रवृत्ति करनेके ज्ञानीके उपदेशको अंगीकार करके उदय भोगनेका प्रवृत्तियोग सहन करते हैं।''

``सर्वसंग बड़ा आस्त्रव है; चलते, देखते और प्रसंग करते हुए समय मात्रमें यह निजभावका विस्मरण करा देता है, और यह बात सर्वथा प्रत्यक्ष देखनेमें आयी है, आती है, और आ सकने जैसी है; इसलिये अहर्निश उस बड़े आस्त्ररूप सर्वसंगमें उदासीनता रहती है, और वह दिन प्रतिदिन बढ़ते हुए परिणामको प्राप्त करती रहती है; वह उससे विशेष परिणामको प्राप्त करके सर्वसंगसे निवृत्ति हो, ऐसी अनन्य कारणयोगसे इच्छा रहती है।''

कृपालुदेवका `पूर्णताके लक्ष्यसे' परिणमन चलता था इसलिये, खुदको ऐसा लगता है कि सर्व व्यवहारसे निवृत्त हुए बिना चित्तमें शांति नहीं होगी। क्योंकि शुरूसे ही आत्मामें अप्रतिबंध असंग भावको बहुत ही भाया है। अतः उस भावका प्रवाह चालू रहता है। परन्तु जब तक उपार्जित प्रारब्ध अस्त न हो तब तक व्यवहारसे निवृत्ति नहीं हो, ऐसा कर्मकृत प्रतिबंध है; आत्मासे इच्छित प्रतिबंध नहीं है। यद्यपि सर्व व्यवहारमें प्रथम इस (बंबई) क्षेत्रसे निवृत्त होनेका विशेष भाव है, तथापि उदयके कारण ऐसा नहीं बन रहा है फिर भी अहर्निश निवृत्त होनेका चिंतन रहता है। अतः थोड़े कालमें निवृत्त हुआ जायेगा ऐसा लगता है। यद्यपि इस क्षेत्रके प्रति कोई द्वेषभाव नहीं है परन्तु निवृत्त होनेके पीछे यहाँके संगसे निवृत्त होनेका प्रयोजन है। आत्मबुद्धिसे देखने पर व्यावसायिक प्रवृत्ति किसी भी प्रकारसे प्रयोजनभूत नहीं लगती है; फिर भी उससे भिन्न रहकर, उदय अनुसार प्रवृत्ति करना - ऐसा ज्ञानीपुरुषका उपदेश अंगीकार करके, प्रवृत्तियोगका वेदन किया जाता है।

उनका स्पष्ट अनुभवपूर्ण अभिप्राय है कि सर्व संग बड़े आस्त्रवका निमित्त है, और सहज मात्रमें - एक क्षणमें निजस्वरूपका विस्मरण करा दे वैसे हैं, और यह बात स्पष्ट - प्रत्यक्ष देखनेमें आती है। इसलिये सर्व प्रसंगोंमें अहर्निश उदासीनता रहती है। और ऐसे उदास परिणाम प्रतिदिन वृद्धिगत होते जाते हैं। इसलिये सर्व संगसे निवृत्त होनेकी अनन्यभावसे इच्छा रहती है। इसप्रकारका, ज्ञानसे आत्मामें उत्पन्न हुआ निश्चय, बदल जाय वैसा नहीं है। इस पत्रमें कृपालुदेवकी निवृत्तिकी और असंगताकी भावनाका दर्शन होता है।

५४८

बंबई, मार्गशीर्ष वदी ९, शुक्र, १९५१

``मेरी आंतरवृत्ति ऐसी है कि परमार्थ-प्रसंगसे किसी मुमुक्षुजीवको मेरा प्रसंग हो तो वह अवश्य मुझसे परमार्थके हेतुकी ही इच्छा करे तभी उसका श्रेय हो; परन्तु द्रव्यादि कारणकी कुछ भी इच्छा रखे अथवा वैसे व्यवसायके लिये वह मुझे सूचित करे, तो फिर अनुक्रमसे वह जीव मलिन वासनाको प्राप्त होकर मुमुक्षुताका नाश करे, ऐसा मुझे निश्चय रहता है।''

``दूसरे कोई भी सत्संगके प्रसंगमें ऐसा करता है तो मेरा चित्त बहुत विचारमें पड़ जाता है या घबरा जाता है, क्योंकि परमार्थका नाश करनेवाली यह भावना इस जीवके उदयमें आयी।''

सत्संगादि परमार्थके प्रसंगमें, मुमुक्षुजीव लौकिक प्रयोजन हेतु प्रवर्तन करें, उस विषयमें कृपालुदेवका अंतरंग कैसा था और उस सम्बन्धमें मुमुक्षुजीवको मार्गदर्शन प्राप्त करके, किस प्रकार बोध ग्रहण करने योग्य है, वह उक्त वचनामृतमें देखने मिलता है।

कृपालुदेवका योग सिर्फ आत्मकल्याण हेतु मुमुक्षुजीवको प्राप्त हो और उसके अलावा द्रव्यादि किसी भी कारणकी मुमुक्षुको वांछा न रहे, तो पारमार्थिक लाभ होनेका संभव है; वरना उस जीवको, क्रमशः इस प्रकारके मलिन परिणामके कारण, दर्शनमोहकी तीव्रता हो जानेसे, उसकी मुमुक्षुताका अभाव हो जाय। अतः ऐसे प्रसंगमें कृपालुदेव विचारान्वित हो जाते हैं अथवा उस मुमुक्षुके पारमार्थिक नुकसानके खयालसे, ऐसा भय होता है कि अरे ! आत्मकल्याणके प्रसंगयोगमें इस जीवको आत्माको अहितकारक ऐसी भावना क्यों उत्पन्न हुई !

उक्त वचनामृतमें कृपालुदेवकी मुमुक्षुजीवके प्रति परम

कारुण्यवृत्तिका दर्शन होता है। तथा मुमुक्षुजीवको परमार्थके निमित्त प्राप्त होने पर सांसारिक प्रयोजनका लक्ष्य छोड़ना चाहिये - ऐसा मार्गदर्शन भी यहाँ पर मिलता है।

५५०

बंबई, मार्गशीर्ष वदी ११, रवि, १९५१

``जब तक परिग्रहादिका लेना-देना हो, ऐसा व्यवहार मुझे उदयमें हो तब तक जिस किसी भी निष्काम मुमुक्षु या सत्पात्र जीवकी तथा अनुकंपायोग्य जीवकी, उसे बताये बिना, हमसे जो कुछ भी सेवाचाकरी हो सके, उसे द्रव्यादि पदार्थसे भी करना, क्योंकि ऐसा मार्ग ऋषभ आदि महापुरुषोंने भी कहीं कहीं जीवकी गुण निष्पन्नताके लिये माना है; यह हमारा निजी (आंतरिक) विचार है।''

मुमुक्षुजीवके प्रति वात्सल्य - प्रवृत्ति करनेका न्याय उक्त वचनामृतमें प्रदर्शित हुआ है। स्वयंकी अंतरंग अभिप्राय सहित आचरणा ऐसी है कि, जब तक खुद परिग्रह आदि लेने-देनेके लौकिक व्यवहारमें खड़े हो, तब तक किसी भी निष्काम मुमुक्षु या सत्पात्र जीव या अनुकम्पाके योग्य ऐसे जीवकी, उस जीवको मालूम न पड़े वैसे (उस जीवको संकोच न हो इस हेतुसे) सेवाचाकरी द्रव्यादिसे भी हो सके उतनी करनी। ऐसा करनेमें स्व-पर गुणनिष्पन्नताका हेतु निहित है। अतः ज्ञानीपुरुषको भी तथाप्रकारसे वात्सल्यप्रवृत्तिका निषेध नहीं है, परन्तु कर्तव्य है। परन्तु ऐसा करनेमें सामनेवाला जीव दीनतामें आये तो वह प्रवृत्ति आत्मकल्याणमें रोधक होती है। ऐसे प्रसंगमें ज्ञानीपुरुष अत्यंत विचक्षणतासे प्रवृत्ति करके या प्रवृत्ति नहीं करके, सामनेवाले जीवका हित हो उस प्रकारसे प्रवृत्ति करते हैं।

इस जगह पर सम्यक्‌दृष्टिके उत्तम वात्सल्य अंगका और

निष्कारण कारुण्यवृत्तिका दर्शन होता है।

५५८

बंबई, पौष वदी १०, रवि, १९५१

``निरुपायताके सिवाय कुछ भी व्यवहार करनेका चित्त अभी मालूम नहीं होता; और जो व्यापार-व्यवहारकी निरुपायता है, उससे भी निवृत्त होनेकी चिंतना रहा करती है। तथा चित्तमें दूसरेको बोध देने योग्य जितनी योग्यता अभी मुझे नहीं लगती है; क्योंकि जब तक सर्व प्रकारके विषम स्थानकोंमें समवृत्ति न हो तब तक यथार्थ आत्मज्ञान कहा नहीं जाता, और जब तक वैसा हो तब तक तो निज अभ्यासकी रक्षा करना उचित है, और अभी उस प्रकारकी मेरी स्थिति होनेसे मैं ऐसे करता हूँ.....''

मोक्षमार्गमें धर्मात्मा कितनी सावधानी रखते हैं ! इस विषयका आभ्यंतर सूक्ष्म उपयोग कृपालुदेवको रहता है, यह उक्त वचनामृतोंमें व्यक्त हुआ है।

स्वयंके अभिप्रायमें ऐसा निर्धार वर्तता है कि निरुपायताके सिवाय किसी भी व्यवहारमें प्रवृत्ति नहीं करना। यद्यपि व्यापारिक व्यवहारकी निरुपायता है, फिर भी उससे निवृत्त होनेकी चिंतना निरंतर रहा करती है; और जबरन करना पड़े ऐसे व्यवहारमें वे प्रवृत्ति करते हैं। अतः दूसरोंको बोध करनेके विषयमें भी जब तक सर्व प्रकारके विषम स्थानकोंमें (राग-द्वेष हो वैसे निमित्तोंमें) समवृत्ति न हो तबतक जो भी न्यूनता हो उसे अंतरपुरुषार्थ द्वारा मिटाकर साधकपनेकी और अंतर अभ्यासकी रक्षा करनी चाहिये - स्वयंकी ऐसी स्थिति होनेसे, किसी भी मुमुक्षुके संगमें भी न आनेके लिये वे प्रयत्न करते हैं। और वैसे प्रसंगमें समागम चाहनेवाले मुमुक्षुकी क्षमायाचना करते

हैं।

स्वरूपकी अत्यंत सावधानी कैसा होती है, इसका यहाँ दर्शन होता है। इतना ही नहीं बोध देनेवाला निर्दोषता और वीतरागता सम्पन्न हो, तो ही बोध करना चाहिये - ऐसा मार्गदर्शन भी यहाँ पर प्रकाशित किया है।

५६०

बंबई, पौष, १९५१

``**ज्ञानीपुरुषको आत्मप्रतिबंधरूपसे संसारसेवा नहीं होती परन्तु प्रारब्धप्रतिबंधरूपसे होती है। ऐसा होने पर भी उससे निवृत्तिरूप परिणामको प्राप्त करे, ऐसी ज्ञानीकी रीति होती है; जिस रीतिका आश्रय करते हुए आज तीन वर्षोंसे विशेषतः वैसा किया है और उसमें अवश्य आत्मदशाको भुलाने जैसा सम्भव रहे, वैसे उदयको भी यथाशक्ति समपरिणामसे सहन किया है। यद्यपि उस सहन करनेके कालमें सर्वसंगनिवृत्ति किसी तरह हो तो अच्छा, ऐसा सूझता रहा है; तो भी सर्वसंगनिवृत्तिमें जो दशा रहनी चाहिये वह दशा उदयमें रहे तो अल्पकालमें विशेष कर्मकी निवृत्ति हो, ऐसा समझकर यथाशक्य उस प्रकारसे किया है। परन्तु अब मनमें ऐसा रहा करता है कि इस प्रसंगसे अर्थात् सकल गृहवाससे दूर न हुआ जा सके तो भी व्यापारादि प्रसंगसे निवृत्त दूर हुआ जाये तो अच्छा।**''

ज्ञानदशाके सिद्धांत अनुसार अपनी दशाका वर्णन इस पत्रमें कृपालुदेवने किया है।

ज्ञानीपुरुषको आत्माका प्रतिबंध हो वैसे प्रकारके परिणामसे संसार प्रवृत्ति नहीं होती - ऐसा सिद्धांत है। परन्तु पूर्वकर्मके प्रतिबंधके कारण संसारकी प्रवृत्ति होती है; और फिर भी उस प्रवृत्तिसे निवृत्त

हुआ जाय, उस प्रकार ज्ञानी प्रवृत्ति करते हैं और इसी रीतका आश्रय पीछले तीन सालसे स्वयंने किया है। ऐसे प्रवर्तनके दौरान ज़रूर आत्मदशासे च्युत हो जाय, ऐसी संभावना रहे वैसे उदयका भी अपनी शक्तिसे हो सके उतने समपरिणामसे / सम्यक् प्रकारसे वेदन किया है; और उसे वेदते हुए सर्व संगसे चाहे कैसे भी निवृत्त हो जाना है - ऐसा लगता रहा है। आभ्यंतर परिणतिमें पुरुषार्थ सहित रहते वक्त, सर्व संगसे निवृत्तिकी भावना उन्हें चालू रही है। और उस समय पुरुषार्थकी उग्रता इतनी उत्कृष्ट रही है कि सर्वसंग निवृत्तिसे जो आत्मदशा रहे, वैसी आत्मदशा यदि उदयमें रहे तो विशेष कर्मकी निर्जरा हो, इतना पुरुषार्थ यथाशक्ति किया है / हुआ है। इसतरह पूर्वकर्मके उदयकालमें प्रवृत्तिमें रहते हुए भी, पूरी शक्तिसे समभावसे परिणमन करनेका उत्कृष्ट पुरुषार्थ (वर्तमान गुणस्थानकी मर्यादा जितना) उन्हें वर्तता था, जिससे मोक्षदशाकी समीपता हो सकी है।

इस समयमें भी उन्हें मनमें ऐसा रहता है कि, सकल गृहवाससे दूर न हुआ जा सके तो भी व्यापारिक प्रवृत्तिसे यदि निवृत्त हुआ जाये तो अच्छा कि जिससे मुमुक्षुओंको आत्मकल्याणमें निमित्त होनेका अवकाश प्राप्त हो।

उक्त प्रकारसे प्रवृत्तियोगमें भी सहज निवृत्तिको भाते-भाते अंतर पुरुषार्थकी अत्यंत जागृतिमें आराधकभावमें उनके दर्शन होते हैं। धन्य हो उनकी साधना को ! वंदन हो उनकी आराधना को !

५६७

बंबई, फागुन सुदी १५, १९५१

``**दो तार, दो पत्र तथा दो चिट्ठियाँ मिली हैं। श्री जिनेन्द्र**

जैसे पुरुषने गृहवासमें जो प्रतिबंध नहीं किया है, वह प्रतिबंध न होनेके लिये आना या पत्र लिखना नहीं हुआ, उसके लिये अत्यंत दीनतासे क्षमा चाहता हूँ। संपूर्ण वीतरागता न होनेसे इस प्रकार बरताव करते हुए अंतरमें विक्षेप हुआ है, जिस विक्षेपको भी शांत करना योग्य है, ऐसा मार्ग ज्ञानीने देखा है।''

व्यावहारिक कारणवश उन्हें दो पोस्टकार्ड, दो पत्र और दो तार द्वारा आनेके लिये आग्रह किया गया है; परन्तु अंतरमें अध्यात्मदशाकी रक्षा हेतु उन्होंने जानेका या प्रत्युत्तर लिखनेका सहजरूपसे नहीं किया। (नहीं हुआ)।

यद्यपि इस पत्रमें उन्होंने अपनी दशाकी विशेषताका वर्णन नहीं किया है, तथापि खुदकी प्रवर्तनासे आराधकदशाकी अभिव्यक्ति अवश्य प्रदर्शित की है।

गृहवासमें रहे श्री जिन जैसे महापुरुष जैसे अप्रतिबंध परिणाममें रहे हैं, वैसे अप्रतिबंध परिणाम सहित स्वयं रहते हैं, इसलिये प्रतिबंध न होनेके लिये तार और पत्रोंका अनुसरण नहीं किया है। ऐसा करनेसे तार-पत्र लिखनेवालेको जो कुछ आकुलता या क्लेश हो इसके लिये उन्होंने अत्यंत दीनतासे क्षमायाचना की है। यद्यपि स्वयंको संपूर्ण वीतरागता नहीं होनेसे सम्बन्धित अन्य जीवोंकी आकुलित स्थिति पर लक्ष्य गया है; और इससे खुदको भी अंतरंग परिणामोंमें अल्प विक्षेप हुआ है; उसका निवेदन भी इस जगह करके, ऐसे विक्षेपको सम्यक् प्रकारसे शमाना चाहिये - ऐसा जो ज्ञानीका मार्ग - उस मार्ग पर चलनेका अभिगम प्रदर्शित किया है।

इसप्रकार अंतर पुरुषार्थकी तीव्रता / उग्रता द्वारा, अप्रतिबंध दशामें रहते हुए, उन्होंने उदयका अनुसरण नहीं किया; ऐसी अंतर - बाह्य सहजता और पुरुषार्थकी पराक्रमताका इस प्रसंग पर दर्शन होता

है।

५६९

बंबई, फागुन वदी ३, १९५१

``अब इस उपाधिकार्यसे छूटनेकी विशेष-विशेष आर्ति हुआ करती है, और छूटे बिना जो कुछ भी काल बीतता है, वह जीवकी शिथिलता ही है, ऐसा लगता है; अथवा ऐसा निश्चय रहता है।
''

नित्य **छूटनेका विचार करते हैं और जैसे वह कार्य तुरत पूरा हो वैसे जाप जपते हैं। यद्यपि ऐसा लगता है कि वह विचार और जाप अभी तक तथारूप नहीं है, शिथिल है; अतः अत्यंत विचार और उस जापका उग्रतासे आराधन करनेका अल्पकालमें योग करना योग्य है, ऐसा रहा करता है।''**

यह पत्र स्व-विचारबल बढ़नेके लिये लिखा गया है। अंतरमें उच्च कोटिकी अध्यात्मदशा होनेके बावजूद भी बाहरमें व्यवसायमें जितना भी उपयोग देना पड़ता था वह खुदको पोसाता नहीं था। जिसके कारण व्यवसायकी उपाधिसे छूटनेके लिये विशेष-विशेष आर्त्तपरिणाम हुआ करते थे; तथापि व्यवसायसे छूट नहीं सकते थे; और समय बीत रहा था; अतः ऐसा होनेमें खुदकी शिथिलता ही है, ऐसा लगता रहा है। और ऐसा निश्चय करके, निवृत्त होनेके विचारबलको बढ़ाया है। व्यवसायसे छूटनेका नित्य विचार होता है और वह कार्य तुरतमें ही हो, वैसा जापकी माफिक धारावाही रटन चलता है। तथापि उसमें शिथिलता दिखती है, वह रटन तथारूप मात्रामें नहीं लगता है, इसलिये उग्रतासे निवृत्तिभावके आराधनकी तैयारी करनी चाहिये - ऐसे परिणाम सहज ही रहा करते हैं।

ज्ञानीपुरुष भी उपाधियोगको भयके हेतुरूप जानकर, इससे निवृत्त होनेका पुरुषार्थ करते हैं। उदयभाव को अपनी शिथिलता ही समझते हैं, और यह शिथिलता यदि लँबे समय तक रही तो उसमें अश्रेय होनेका जोखिम रहा है, ऐसा भय रखना उचित जानकर, शीघ्र निवृत्त हुआ जाये, ऐसे प्रयत्नमें अप्रमादरूपसे लगे हैं। - इस सिद्धांतका कृपालुदेव उपयोगपूर्वक अनुसरण करते हैं। जो उक्त वचनामृतोंमें व्यक्त होता है।

५७६

बंबई, चैत्र सुदी ६, सोम, १९५१

``**(व्यापारिक प्रवृत्ति विशेष न करनेकी) चित्तकी इच्छा नित्य ऐसी रहा करती है। लोभहेतुसे वह प्रवृत्ति होती है या नहीं ? ऐसा विचार करते हुए लोभका निदान प्रतीत नहीं होता। विषयादिकी इच्छासे प्रवृत्ति होती है, ऐसा भी प्रतीत नहीं होता; तथापि प्रवृत्ति होती है, इसमें सन्देह नहीं। जगत कुछ लेनेके लिये प्रवृत्ति करता है, यह प्रवृत्ति देनेके लिये होती होगी ऐसा लगता है।**''

व्यापार सम्बन्धित स्वयंके परिणामोंका अवलोकन इस वचनामृतमें नज़र आता है। व्यावसायिक प्रवृत्ति विशेष न करनेकी इच्छा नित्य रहा करती है। यद्यपि निवृत्त होनेके उग्र परिणाम हो, वहाँ ऐसा होना स्वाभाविक है; तथापि प्रवृत्तिके कारणकी जाँच करने पर खुदको ऐसा लगता है कि लोभ हेतुवश यानी कि लोभके निदानपूर्वक प्रवृत्ति नहीं होती है। इतना ही नहीं विषयभोग और बाह्य अनुकूलताकी इच्छासे भी प्रवृत्ति की जाती हो, ऐसा भी नहीं लगता। इसके बावजूद भी प्रवृत्ति हो रही है, यह निःसंदेह है। इसकी गहराईसे जाँच करने पर स्वयंको ऐसा मालूम हुआ कि, जगतमें मनुष्य कुछ न कुछ

इच्छित पदार्थ जुटानेके लिये प्रवृत्ति करते हैं, ऐसा प्रकार बिलकुल मालूम नहीं होता; परन्तु पूर्व उपार्जित कर्मरूपी कर्ज़ चुकानेके लिये प्रवृत्ति होती होगी ऐसा लगता है।

कर्म-सम्बन्धी कुदरती व्यवस्थाके सिद्धांतका यहाँ लाक्षणिकरूपसे उल्लेख हुआ है। इतना ही नहीं उक्त प्रकारसे यानी कि जिनका उदय पूर्वकर्मकी निर्जरा हेतु होता है, ऐसे ज्ञानीको बंधन नहीं है, यह सिद्धांत कृपालुदेवके परिणमनसे चरितार्थ होता हुआ मालूम पड़ता है - प्रतीत होता है।

५८२

बंबई, चैत्र वदी ८, १९५१

``**कदाचित् कभी कोई समागममें आता है, और कुछ स्वाभाविक कहना-करना होता है, इसमें भी चित्तकी इच्छित प्रवृत्ति नहीं है। पूर्वकालमें यथास्थित विचार किये बिना जीवने प्रवृत्ति की, उससे ऐसे व्यवहारका उदय प्राप्त हुआ है, जिससे कई बार चित्तमें शोक रहता है। परन्तु यथास्थित समपरिणामसे वेदन करना योग्य है, ऐसा समझकर प्रायः वैसी प्रवृत्ति रहती है। फिर आत्मदशाके विशेष स्थिर होनेके लिये असंगतामें ध्यान रहा करता है, इस व्यापारादिके उदय-व्यवहारसे जो जो संग होते हैं, उनमें प्रायः असंग परिणामवत् प्रवृत्ति होती है, क्योंकि उनमें सारभूत कुछ नहीं लगता।**''

कृपालुदेवके द्वारा धर्म-प्रभावना हो तो अच्छा - ऐसी भावना समागमवासी मुमुक्षुओंको होती थी। परन्तु अनेक कारणोंका विचार करके ऐसे प्रसंगमें धर्म-उपदेशक होकर प्रवर्तन नहीं करना, ऐसा निर्णय उन्होंने किया था। तथापि कभी कोई मुमुक्षु समागमें आये तब स्वाभाविक कुछ कहना-करना होता है। फिर भी उसमें चित्तकी

इच्छित प्रवृत्ति नहीं होती। क्योंकि स्वयं वर्तमानमें बाह्य प्रवृत्तिकालमें सम्यक् प्रकारसे मुक्त होनेके पुरुषार्थमें लगे हुए हैं।

वर्तमान उदयके सम्बन्धमें स्वयं समाधान करते हैं कि, पूर्वमें यथास्थित विचार किये बिना प्रवृत्ति की है, जिसके फलस्वरूप इस प्रकारके व्यवहारका उदय प्राप्त हुआ है और ऐसे भूतकालके परिणाम सम्बन्धी शोक भी रहता है; परन्तु वर्तमानमें तो उदयका समपरिणामसे वेदन करना चाहिये, ऐसा जानकर, पूरे उद्यमसे अंतरपुरुषार्थकी प्रवृत्ति चलती है। और तद्अनुसार आत्मदशाकी विशेष स्थिरता हेतु, असंगता प्राप्त हो, ऐसा लक्ष्य रहा करता है। यद्यपि व्यापारादि उदय व्यवहारसे जो कुछ भी संग होता है उसमें प्रायः असंग परिणामवत् प्रवृत्ति होती है; क्योंकि व्यवहार कार्यमें निःसारता लगती है। इसलिये सिर्फ ऊपर-ऊपरके उपयोगसे उदयमें आ पड़े प्रसंगमें, मुख्यतया ज्ञाताभावमें रहकर, समपरिणामसे उन-उन प्रसंगोंका वेदन करते हैं।

प्रथम वीतरागता वृद्धिगत होनेके पश्चात् अंतर बाह्य अविरोध दशा प्राप्त होने पर धर्म-प्रभावनामें प्रवृत्ति करनी चाहिये - इस सिद्धांतका वे चूस्ततापूर्वक अनुसरण कर रहे हैं, ऐसा इस पत्रमें प्रदर्शित होता है।

५८३

बंबई, चैत्र वदी ११, शुक्र, १९५१

``एक आत्मपरिणामके सिवाय दूसरे जो विषय हैं उनमें चित्त अव्यवस्थिततासे रहता है, और वैसी अव्यवस्थितता लोकव्यवहारसे प्रतिकूल होनेसे लोकव्यवहार करना रुचता नहीं है, और छोड़ना नहीं बन पाता; यह वेदना प्रायः दिनभर वेदनमें आती रहती है।''

``खानेमें, पीनेमें, बोलनेमें, शयनमें, लिखनेमें या अन्य व्यावहारिक कार्योंमें यथोचित भानसे प्रवृत्ति नहीं की जाती और वैसे प्रसंग रहा करनेसे आत्मपरिणतिका स्वतंत्र प्रगटरूपसे अनुसरण करनेमें विपत्ति आया करती है; और इस विषयका प्रतिक्षण दुःख रहा करता है।''

``अचलित आत्मरूपसे रहनेकी स्थितिमें ही चित्तेच्छा रहती है, और उपर्युक्त प्रसंगोंकी आपत्तिके कारण कितना ही उस स्थितिका वियोग रहा करता है; और वह वियोग मात्र परेच्छासे रहा है, स्वेच्छाके कारणसे नहीं रहा; यह एक गंभीर वेदना प्रतिक्षण हुआ करती है।''

``एक आत्मपरिणामके सिवाय दूसरे सर्व परिणामोंमें उदासीनता रहती है। और जो कुछ किया जाता है वह यथोचित भानके सौवें अंशसे भी नहीं होता। ज्यों-त्यों और जो-सो किया जाता है।''

उक्त वचनामृतोंमें कृपालुदेवकी स्वरूप-आराधनाकी स्पष्ट एवम् सुंदर अभिव्यक्ति हुई है। उन्हें स्वरूप परिणतिमें प्रगाढ़ रसके कारण आत्माके अलावा दूसरे जो भी विषय उसमें चित्त अव्यस्थित रहता है। ऐसी अव्यवस्थितता लोक-व्यवहारको अनुकूल नहीं होनेसे, व्यवहारमें प्रवृत्ति करना नहीं सुहाता। स्वयं व्यवहारको छोड़ना चाहते है फिर भी पूर्वकर्मके कारण छोड़ नहीं सकते है - इसतरह परस्पर विरुद्ध परिस्थितिके कारण, उसकी वेदना प्रायः सारे दिन रहा करती है।

खाना, पीना, बोलना, सोना या लिखना या इसके अलावा दूसरे कार्योंमें यथोचित भानसे प्रवृत्ति नहीं की जाती, वैसी आत्मामय परिणति और लक्ष्य होनेसे, व्यावहारिक कार्योंके प्रसंग आत्मपरिणतिको विशेषरूपसे प्रगट होनेमें बाधारूप होते हैं, इसलिये उसका प्रतिक्षण

दुःख रहा करता है।

परम कृपालुदेवकी अचलित भावसे आत्मस्वरूपमें रहनेकी भावना रहती है। परन्तु व्यावहारिक प्रसंगोंकी आपत्तिके कारण, इच्छित आत्मस्थिरताका वियोग रहता है। ऐसी परिस्थिति परेच्छाके कारण रखनी पड़ती है। जिसके कारण वह एक प्रतिक्षण गंभीर वेदनारूप हो चुका है।

आत्मपरिणतिमें इस प्रकारकी उग्रता होनेके पहले, लिखनेका कार्य, वाणीकी प्रवृत्ति इत्यादिमें कुशलतापूर्वक प्रवर्तन होता था, परन्तु अभी इन दिनों उन-उन प्रसंगोंमें उपयोग नहीं दे सकते हैं, और ऐसे परिणाम कालमें नीरसता या उदासीनता आ जानेसे, ऐसी स्थितिमें जो कुछ कार्य किये जाते हैं, वे `करने चाहिये' ऐसे यथोचित भानके सौवें अंशसे भी नहीं किये जाते, अर्थात् ज्यों-त्यों और जो-सो किया जाता है।

अभी गृहस्थकेयोग्य व्यवहारमें खड़े होनेके बावजूद भी, कृपालुदेवकी ऐसी अद्‌भुत आत्मदशा हो गई है!! जिन धर्मात्माकी ऐसी दशा हो, वे संसारमें कैसे रह सकते हैं ? ऐसी स्थितिमें परिणमनशील धर्मात्माएं सहजरूपसे निर्ग्रंथदशामें आ जाये, यह सहज समझमें आये वैसा है।

धन्य दशा ! धन्य वीतराग-मार्ग ! और धन्य इस वीतराग-मार्गके आराधक संत !

५८६

बंबई, चैत्र वदी १२, रवि १९५१

``पूर्णज्ञानी श्री ऋषभदेवादि पुरुषोंको भी प्रारब्धोदय भोगनेपर क्षय हुआ है; तो हम जैसोंका वह प्रारब्धोदय भोगना ही पड़े इसमें

कुछ संशय नहीं है। मात्र खेद इतना होता है कि हमें ऐसे प्रारब्धोदयमें श्री ऋषभदेवादि जैसी अविषमता रहे इतना बल नहीं है; और इसलिये प्रारब्धोदयमें होनेपर वारंवार उससे अपरिपक्वकालमें छूटनेकी कामना हो आती है, कि यदि इस विषम प्रारब्धोदयके कुछ भी उपयोगकी यथातथ्यता न रही तो फिर आत्मस्थिरता प्राप्त करनेके लिये पुनः अवसर खोजना होगा; और पश्चातापपूर्वक देह छूटेगा; ऐसी चिंता अनेक बार हो आती है।''

``यह प्रारब्धोदय मिटकर निवृत्तिकर्मका वेदन करनेरूप प्रारब्धका उदय होनेका आशय रहा करता है, परन्तु वह तुरत अर्थात् एकसे डेढ़ वर्षमें हो ऐसा तो दिखायी नहीं देता; और पल पल बीतना कठिन पड़ता है।''

``अब जैसे तैसे करके उस प्रारब्धोदयका तुरत क्षय हो तो अच्छा है, ऐसा मनमें बहुत बार रहा करता है।''

ज्ञानीको भी प्रारब्ध-उदय भोगना ही पड़े उस विषयमें, श्री ऋषभदेव आदि महापुरुषोंके दृष्टांतसे, अपनी दशा लिखी है। और सखेद लिखते हैं, कि ऐसे प्रारब्ध-उदयमें श्री ऋषभदेवादि जैसी अविषमता रहे, उतना पुरुषार्थ खुदका नहीं है। इस प्रकार अपने पुरुषार्थकी मंदताका, महापुरुषकी बराबरीमें, यहाँ पर निवेदन किया है; और उस दृष्टिकोणसे अपरिपक्वकालमें प्रारब्ध-उदयसे छूटनेकी इच्छा हुआ करती है। ऐसा होनेमें आशय यह है कि प्रवर्तमान विषम प्रारब्धोदयमें, परिणमनमें उपयोगकी जैसी चाहिये वैसी सावधानी कदाचित् न रही तो, ज्ञानदशासे च्युत होनेका प्रसंग आ जाये; और फिर वापिस आत्मस्थिरता प्राप्त होनेमें बहुत लंबा समय लग सकता है, और कदाचित् ऐसी स्थितिमें आयुष्य पूर्ण हो गया तो बहुत पश्चातापपूर्वक देह छूटेगा - ऐसी चिंता कई बार हो जाती है।

इस ज़गह अध्यात्मके सिद्धांतका विचार इसप्रकार कर्तव्य है कि (कृपालुदेवका अंतर आशय भी ऐसा ही समझने योग्य है कि) ज्ञानदशा प्राप्त होने पर भी अधिक समय उस ही गुणस्थानमें रहनेमें, और पुरुषार्थकी उग्रता नहीं होनेसे, स्वरूप-स्थिरता वृद्धिगत नहीं होनेसे ऊपरके गुणस्थानमें नहीं जाया जाता, इसलिये कदापि तीव्र विषम उदयमें स्वरूप-सावधानी न रहनेकी संभावना रहती है। और स्वयंकी शीघ्र पूर्ण होनेकी भावना वशात् वही के वही गुणस्थानमें रहने पर अत्यंत खेद और असंतोष उत्पन्न हो जाता है।

इसके अलावा प्रवृत्तिसे निवृत्ति कर्मके वेदनरूप प्रारब्ध-उदय साधनाको अनुकूल होनेसे वह इच्छनीय है, परन्तु अभी एक-डेढ़ साल ऐसा होना सम्भवित नहीं दिखता, यह परिस्थिति असह्य हो चुकी है, एक-एक पल बीताना कठिन लगता है। वास्तवमें बहुभाग समय व्यावसायिक प्रवृत्तिमें व्यतीत हो जाता है, जो कि पुसाता नहीं है; इसलिये प्रवृत्तिरूप उदय चाहे कैसे भी तुरत क्षय हो तो अच्छा, ऐसा भाव हुआ करता है।

उक्त वचनोंमें अंतरंग पुरुषार्थकी उग्रतासूचक और शीघ्र मोक्षमार्गमें आगे बढ़नेकी भावनाका दर्शन होता है। अंतर्मुखताका पुरुषार्थ बढ़कर सहज समभाव रहे ऐसा पर्याप्तरूपसे जब तक न हो तब तक साधनाके अनुकूल बाह्य संयोग रहे तो अच्छा, ऐसा भाव सहज आ जाता है। आध्यात्म परिणामके कारण अंतर-बाह्य परिणाम, उपयोगमें कितने सूक्ष्मरूपसे मालूम होते हैं, और मोक्षमार्गकी निर्दोषता उसमें किस प्रकार होती है, यह स्वयंकी दशाका वर्णन करते हुए, यहाँ प्रदर्शित हुआ है।

✻

५९०

बंबई, चैत्र वदी १४, १९५१

``चारित्र...... दशा सम्बन्धी.... अनुप्रेक्षा बहुत बार रहनेपर भी चंचल परिणतिका हेतु ऐसा उपाधियोग तीव्र उदयरूप होनेसे चित्तमें प्रायः खेद जैसा रहता है, और उस खेदसे शिथिलता उत्पन्न होकर विशेष नहीं कहा जा सकता।''

कृपालुदेवको इस समय एक तरफ स्वरूपमें स्थित होनेरूप चारित्र सम्बन्धित पुरुषार्थकी तीव्र उत्कंठा दिखती है तो दूसरी तरफ उपाधियोगका तीव्र उदय भी रहता है। इसतरह अंतर-बाह्य दोनों स्थानमें तीव्रता चल रही है। और वे साधकभावसे उदयके सामने जूझते हुए नज़र आते हैं। ऐसे समयमें सहजरूपसे उदयके लक्ष्यसे चित्तमें स्वयंकी चंचल परिणतिके निमित्तभूत ऐसे उदय सम्बन्धित खेद जैसा रहता है। और यह खेद भी एक शिथिलतारूप होनेसे विशेष उदासीनता आ जाती है। जिसके कारण कहने योग्य बहुत सी बातें मनमें होनेके बावजूद भी स्वयं विशेष कुछ लिख नहीं सकते।

अध्यात्मका सिद्धांत ऐसा है कि, उपाधियोगका तीव्र प्रकार हो तब यदि पुरुषार्थहीनता हुई तो ज्ञानदशासे च्युत हो जाये और यदि बलवान पुरुषार्थ हुआ तो आत्म-स्थिरतारूप समभावसे निर्जरा विशेष होगी। (कोई धर्मात्मा तो ऊपरके गुणस्थानमें आरुढ़ हो जाते हैं।) और यदि पर्याप्तमात्रामें पुरुषार्थ हो तो दशा टिकी रहे; परन्तु अल्प चंचलताका खेद और उदासीनता बढ़ जाये, जिससे साक्षात् वीतराग चारित्र प्रायः प्रगट नहीं होता परन्तु अचारित्रके मूल कटते जाते हैं।

✻

५९२

बंबई, वैशाख सुदी, १९५१

``**प्रवृत्ति विराम पाती नहीं; विरक्ति बहुत रहती है।**''

``**वनमें अथवा एकांतमें सहजरूपका अनुभव करता हुआ आत्मा सर्वथा निर्विषय रहे ऐसा करनेमें सारी इच्छाएँ लगी है।**''

कृपालुदेवको पूर्वकर्मका उदय अभी भी पूरा नहीं होता, तथापि परिणानमें बहुत विरक्तता रहती है। सामान्य रूपसे धर्मात्माको पूर्वकर्मकी स्थितिका अपकर्षण होकर वह विराम पाती है। परन्तु ऐसा हुआ नहीं। फिर भी पूरा प्रयत्न उसप्रकारसे हो रहा है कि आत्मा केवल निर्विषय होकर सिर्फ निज सहजस्वरूपका एकांत स्थानमें अनुभव करता रहे। वर्तमान वीर्यगुणका क्षयोपशम ऐसा होनेमें रुका है अर्थात् सर्व उद्यमसे स्वरूप-स्थित रहनेका उनका प्रयास चलता है।

५९३

बंबई, वैशाख सुदी १५, बुध, १९५१

``**इस देहकी आयु प्रत्यक्ष उपाधियोगमें व्यतीत होती जा रही है। इसके लिये अत्यंत शोक होता है, और उसका यदि अल्पकालमें उपाय न किया तो हम जैसे अविचारी भी थोड़े समझना।**''

इस पत्रमें भी वीतराग चारित्रकी (- ऊपरके गुणस्थानकी) दशा प्राप्त नहीं होनेके कारण उत्पन्न खेद व्यक्त हुआ है।

अरे! इस देहका आयुष्य उपाधियोगमें प्रत्यक्ष व्यतीत होता जा रहा है, इसके लिये बहुत दुःख होता है। उसका अल्प कालमें ही उपाय कर्तव्य है। यदि अल्पकालमें वर्तमान आयुष्यका सदुपयोग करके निर्ग्रंथदशा तक नहीं पहुँचा गया, तो उपाधियोगमें समय व्यतीत

हो जायेगा, इस बाबतका बहुत ही अफ़सोस होगा; जैसे मानो अविचारीपना न हो गया हो !!

कृपालुदेवने स्वयंने मार्ग देखा है और वर्तमानमें अंतरदशामें आत्मिक पुरुषार्थ और बाह्यदशामें उदासीनता रहती है। अतः केवलज्ञानका कारण ऐसी जो बाहयाभ्यंतर निर्ग्रँथता प्राप्त करना, वह उनके लिये सहज है; और उस दशा तक पहुँचनेका फल भी परमात्मपदकी प्राप्ति है। ऐसा महान् आत्मलाभ - सिर्फ व्यर्थ उपाधियोगमें समय व्यतीत करके खोना पड़े तो एक न्यायसे उसे अविचारीपना गिना है; जो यथार्थ है।

६०९

बंबई, जेठ, १९५१

``(**सत्संगके उपकार सम्बन्धी**) **बातकी विचारणासे हमारे आत्मामें आत्मगुणका आविर्भाव होकर सहज समाधिपर्यंत प्राप्त हुए, ऐसे सत्संगको मैं अत्यंत अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।**''

कृपालुदेवने अपने अनेक पत्रोंमें वारंवार सत्संगकी महिमा की है। इस पत्रमें भी सत्संग विषयक अनेक पहलूकी `ज्ञानीके मार्गके आश्रयके उपदेशक' अनेक वाक्य, मुमुक्षुजीवको अपने आत्मामें निरंतर परिणमित करने योग्य जानकर, और अपने आत्मगुणके विशेष लाभार्थ लिखें हैं। इतना ही नहीं, परन्तु उस विषयमें लिखते-लिखते अपने आत्मामें आत्मगुणका (-स्वभाव) आविर्भाव होकर, वह परिणमन सहज समाधिभाव (-निर्विकल्पदशा) को प्राप्त हुआ - ऐसे सत्सगंको, स्वयंने अत्यंत-अत्यंत भक्तिसे नमस्कार किया है। ऐसा स्पष्ट उल्लेख यहाँ पर है।

सत्संग / सत्पुरुषकी महिमा करते-करते कृपालुदेवकी ऐसी सहज

दशा हो गई कि स्वभाव आविर्भूत होकर शुद्धोपयोगकी प्राप्ति हुई है; उस दशाका प्रकार वाकई आनंद-आश्चर्य उत्पन्न करे, वैसा है। इस विषयमें अध्यात्मका सिद्धांत ऐसा है कि, स्वभाव प्रत्ययी उग्र पुरुषार्थ होने पर निर्विकल्प दशा होती है, और पुरुषार्थकी मंदताके वक्त विकल्प रहते हैं।

यहाँ पर तो सत्पुरुषके सत्संगकी महिमा करते-करते स्वभाव प्रत्ययी उग्र पुरुषार्थ हुआ, यह कृपालुदेवकी आत्मदशाकी - परिणतिकी तीखाशको व्यक्त करता है। वाकई उनकी साधनाके प्रति रोमांचित भक्तिसे वंदन और नमन हो जाते हैं।

✻

६१२

बंबई, आषाढ सुदी १, रवि, १९५१

``**अभी चित्तकी प्रवृत्ति अंतर्विचारमें विशेष रहती है; और लिखने आदिकी प्रवृत्तिसे चित्त संकुचित रहता है। फिर उदय भी तथारूप रहता है। पहलेकी अपेक्षा बोलनेके सम्बन्धमें भी प्रायः ऐसा ही उदय रहता है।**''

``**अहोरात्र प्रायः विचारदशा रहा करती है...**''

परमकृपालुदेवने इस पत्रमें अंतर परिणतिसे, लिखने-बोलनेकी प्रवृत्तिमें, भूतकालकी अपेक्षा जो कुछ फ़र्क पड़ा, उसका उल्लेख किया है। स्वयंको चित्तकी प्रवृत्ति विशेषरूपसे अंतर्मुख रहनेके कारण बोलनेकी और लिखनेकी प्रवृत्तिमें चित्त संक्षिप्तताको प्राप्त हो जाता है, सिकुड़ जाता है। इतने अंशमें बाह्य परिणमनमेंसे बल और रस कम हो गये हैं। इसलिये सहजरूपसे चित्त वह काम नहीं कर सकता। इस तरह आत्मरसकी अंतरंग परिणतिका प्रतिभाव, उदयभावमें सहज हो चुका है। उन्हें अहोरात्र अध्यात्म-विचारदशा रहा करती

है।

✻

६१९

बंबई, आषाढ़ वदी १४, रवि, १९५१

`**एक भी प्रसंगमें प्रवृत्ति करते हुए तथा लिखते हुए प्रायः जो अक्रियपरिणति रहती है, उस परिणतिके कारण अभी ठीक तरहसे सूचित नहीं किया जा सकता,..**'

कृपालुदेवकी आत्मपरिणतिमें स्वरूप रस प्रगाढ़रूपसे चल रहा है, अतः एक भी प्रसंगमें प्रवृत्ति करते हुए या लिखते वक्त उनके बाह्य परिणाम नीरस होकर निष्क्रिय हो जाते हैं। इस वजहसे पत्रमें भी विस्तारसे लिखना नहीं हो सकता। अतः यहाँ उन्होंने अपनी परिणतिको `अक्रिय परिणति' चल रही है ऐसा उल्लेख किया है। पत्र लिखने जैसे साधारण उदयके प्रसंगमें इस प्रकारसे रसका अभाव हो जाय, यह स्वरूप-रसके तीव्र सद्भावका द्योतक है; और आत्मभावमें परिणति अत्यंत जम गई है, ऐसा स्पष्ट होता है।

✻

६२०

बंबई, आषाढ़ वदी ३०, सोम, १९५१

``**कुछ समयसे सहजप्रवृत्ति और उदीरणप्रवृत्ति, इस भेदसे प्रवृत्ति रहती है। मुख्यतः सहजप्रवृत्ति रहती है। सहजप्रवृत्ति अर्थात् जो प्रारब्धोदयसे उत्पन्न होती हो, परन्तु जिसमें कर्तव्य परिणाम नहीं है। दूसरी उदीरणप्रवृत्ति वह है जो परार्थ आदिके योगसे करनी पड़ती है। अभी दूसरी प्रवृत्ति होनेमें आत्मा संकुचित होता है; क्योंकि अपूर्व समाधियोगको उस कारणसे भी प्रतिबंध होता है, ऐसा सुना था तथा जाना था; और अभी वैसा स्पष्टरूपसे वेदन किया है।**

उन उन कारणोंसे अधिक समागममें आनेका, पत्रादिसे कुछ भी प्रश्नोत्तरादि लिखनेका तथा दूसरे प्रकारसे परमार्थ आदिके लिखने-करनेका भी मंद होनेके पर्यायका आत्मा सेवन करता है। ऐसे पर्यायका सेवन किये बिना अपूर्व समाधिकी हानिका सम्भव था। ऐसा होनेपर भी यथायोग्य मंद प्रवृत्ति नहीं हुई।''

ज्ञानीपुरुषको पूर्वकर्म भोगते हुए स्वरूप-आराधनामें जिस प्रकारकी प्रवृत्ति होती है, उसकी स्पष्टरूपसे अभिव्यक्ति कृपालुदेवने अपनी अनुभवदशासे यहाँ पर की है।

उन्हें अभी कुछ समयसे दो प्रकारकी प्रवृत्ति रहती हैं - एक सहज प्रवृत्ति और दूसरी उदीरणप्रवृत्ति। जिसमें मुख्यरूपसे सहज प्रवृत्ति चल रही है, यानी कि जिसमें परिणामके कर्तृत्वकी वृत्ति नहीं है; परन्तु प्रारब्धोदयसे मन, वचन, कायाकी प्रवृत्ति होती है; और उपयोगमें भिन्नता वेदनमें आती है, लक्ष्य स्वरूपका रहता है।

दूसरी उदीरणप्रवृत्ति अर्थात् अनिच्छासे दूसरोंके कारणसे करनी पड़े ऐसी प्रवृत्ति। उस प्रकारमें प्रवृत्ति करते हुए वृत्ति संक्षेप हो जाती है। ऐसा पूर्वमें श्रवण करके समझा था और अभी ऐसा स्पष्टरूपसे अनुभवमें आता है। इसी कारणसे किसीके साथ समागममें आने पर, पत्र इत्यादि लिखने वक्त, या पारमार्थिक लिखने-करनेमें, सहजरूपसे उपयोग संकुचित होकर परिणाम होते हैं। ऐसी वृत्ति संक्षिप्तता कृत्रिमरूपसे नहीं होती, परन्तु सहज ही आत्माको ऐसा हो जाता है। कदाचित् ऐसा नहीं हुआ तो अंतरमें समाधि-परिणामकी हानि होनेका संभव रहता है। ऐसा होने पर भी जितनी चाहिये उतने अनुपातमें वृत्ति संक्षेप होकर प्रवृत्ति नहीं हुई, ऐसा स्वयंको अवलोकनमें आया है।

उदीरणप्रवृत्तिके वक्त अवलोकन होनेसे रस भंग होकर, वृत्ति

-संक्षेप होनेका सहज बनता है। और इस प्रकार बाह्य परिणाम मर्यादामें आ जाते हैं। परिणाम सम्बन्धित और अनुभव सम्बन्धित ऐसा जो विज्ञान, वह उनके उक्त वचनामृतमें प्रदर्शित हुआ है।

६३०

ववाणिया, श्रावण वदी १२, शनि, १९५१

``(कुछ एक) **प्रश्नोंका समाधान बतानेकी चित्तमें क्वचित् सहज इच्छा भी रहती है, तथापि लिखनेमें विशेष उपयोग रोक सकनेका काम बड़ी मुश्किलसे होता है। और इसलिये कभी लिखना होता है और कभी लिखना नहीं हो पाता, अथवा नियमित उत्तर लिखना नहीं हो सकता। प्रायः अमुक काल तक तो अभी तो तथाप्रकारसे रहना योग्य है।''**

मुमुक्षुजीवको विचारकी निर्मलता हेतु उनके (श्री सौभाग्यभाईके) प्रश्नोंका समाधान बतानेकी सहज इच्छा रहती है। परन्तु स्वयंकी अंतर-परिणतिमें आत्मभावकी उग्रता रहनेसे, लिखनेमें उपयोगको विशेषरूपसे रोक¯ रखना बड़ी मुश्किलसे हो पाता है। बाह्य उपयोगके प्रसंगमें रहते हुए मुश्किल होनेका कारण यह है कि, परिणतिमें आत्मभाव बलवान होनेसे बाह्य अंशको प्रवृत्ति करनेमें बहुत मुश्किल पड़ती है। इस वज़हसे कभी लिखना हो पाता है और कभी तो लिखना भी नहीं बन सकता, पत्रका उत्तर लिखनेमें भी अनियमितता हो जाती है। उन्हें अपनी अंतर-परिणतिके प्रवाहका वेग देखकर ऐसा लगता है कि, अमुक काल तक तो यह प्रकार बलवानरूपसे चालू रहेगा।

अहो ! उनके आराधक भावकी सहजता और सरलता ! प्रश्नोंके उत्तर दें, तब तो उनके उपकारित्वके कारण वे वंदनीय हैं (ही)

! परन्तु प्रश्नका उत्तर न देकर बलवान अध्यात्म-परिणतिमें विचरे, वह दशा भी वंदनीय है!

जीवको सत्पुरुषका योग मिलना तो सर्व कालमें दुर्लभ है। उसमें भी ऐसे दुःषमकालमें तो वह योग क्वचित् ही मिलता है। विरले ही सत्पुरुष विचरते हैं। उस समागमका लाभ अपूर्व है, यों समझकर जीवको मोक्षमार्गकी प्रतीति कर, उस मार्गका निरन्तर आराधन करना योग्य है।

(कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी)

विचारकी निर्मलतासे यदि यह जीव अन्यपरिचयसे पीछे हटे तो सहजमें अभी ही उसे आत्मयोग प्रगट हो जाये। असत्संग-प्रसंगका घिराव विशेष है, और यह जीव उससे अनादिकालका हीनसत्त्व हुआ होनेसे उससे अवकाश प्राप्त करनेके लिये अथवा उसकी निवृत्ति करनेके लिये यथासंभव सत्संगका आश्रय करे तो किसी तरह पुरुषार्थयोग्य होकर विचारदशाको प्राप्त करे।

(कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी)

वर्ष २९वाँ

६७१

बंबई, फागुन सुदी ३, रवि, १९५२

``जिस प्रारब्धके उदयसे यहाँ स्थिति है, उस प्रारब्धका जिस प्रकारसे विशेषतः वेदन किया जाय उस प्रकारसे रहा जाता है। और इससे विस्तारपूर्वक पत्रादि लिखना प्रायः नहीं होता।''

कृपालुदेवको जिस प्रारब्धके उदयसे व्यवसाय हेतु बंबईमें रहना हो रहा है, उस प्रारब्धका सम्यक् प्रकारसे विशेषतः वेदन हो, तथारूप प्रवर्तन है। अर्थात् व्यवसाय सम्बन्धित प्रवृत्ति करते हुए भी मुख्यरूपसे परिणाम अबंधभावसे चलते हैं। ऐसा आत्मिक पुरुषार्थ विशेषरूपसे रहता होनेसे, नया कर्मबंध न हो, वैसे प्रवर्तनमें, पत्रादिकी प्रवृत्ति विस्तारपूर्वक नहीं की जा सकती। आत्मकार्यकी प्रधानतामें, बाह्य धार्मिक प्रवृत्ति सहज गौण होती है। मुमुक्षु जीवको इस प्रकारके बोधकी प्राप्ति उनके जीवन द्वारा (बिना उपदेश किये भी) हो जाती है।

६८०

बंबई, चैत्र सुदी १३, १९५२

``जिसकी मोक्षके सिवाय किसी भी वस्तुकी इच्छा या स्पृहा नहीं थी और अखंड स्वरूपमें रमणता होनेसे मोक्षकी इच्छा भी निवृत्त हो गयी है, उसे हे नाथ ! तू तुष्टमान होकर भी और क्या देनेवाला था ?''

``हे कृपालु ! तेरे अभेद स्वरूपमें ही मेरा निवास है वहाँ अब तो लेने-देनेकी भी झंझटसे छूट गये हैं और यही हमारा परमानंद है।''

``कल्याणके मार्गको और परमार्थस्वरूपको यथार्थतः नहीं समझनेवाले अज्ञानी जीव, अपनी मति-कल्पनासे मोक्षमार्गकी कल्पना करके विविध उपायोंमें प्रवृत्ति करते हैं फिर भी मोक्ष पानेके बदले संसारमें भटकते हैं; यह जानकर हमारा निष्कारण करुणाशील हृदय रोता है।''

``इस विषमकालमें परमशांतिके धामरूप हम दूसरे श्री राम अथवा श्री महावीर ही हैं, क्योंकि हम परमात्मस्वरूप हुए हैं''

``यह अंतर अनुभव परमात्मस्वरूपकी मान्यताके अभिमानसे उद्भुत हुआ नहीं लिखा है, परंतु कर्मबंधनसे दुःखी होते जगतके जीवों पर परम करुणाभाव आनेसे उनका कल्याण करनेकी तथा उनका उद्धार करनेकी निष्कारण करूणा ही यह हृदयचित्र प्रदर्शित करनेकी प्रेरणा करती है।''

कृपालुदेवका यह लेख अंगत संबोधनसे लिखा गया है। जिसमें उनकी स्वरूप दृष्टिकी मस्ती और दूसरे परमार्थप्रेमी अज्ञानी जीवोंके प्रति कारुणवृत्तिका दर्शन होता है।

निश्चयदृष्टिसे वे लिखते हैं कि हे नाथ ! (निज परमात्मा) प्रारम्भमें तो एक मोक्षकी अभिलाषाके अलावा मुझे कोई भी वस्तुकी इच्छा या स्पृहा नहीं थी, परन्तु वर्तमानमें अखण्ड स्वरूपमें यानी कि निज परमात्मपदमें रमणता होनेसे उस मोक्षप्राप्तिका विकल्प भी निवृत्त हो गया है। कृतकृत्य ऐसे आत्मस्वरूपमें अभेद स्वरूपाकार कृतकृत्य वर्तती है; और इसलिये परमानंदकी भी प्राप्ति हुई है। वर्तमान पर्याय सम्बन्धी अपेक्षा या आकुलता नहीं होती, प्राप्ति-अप्राप्तिका अभिप्राय पूर्ण स्वरूपलक्ष्यसे नष्ट हुआ है। इस प्रकारकी स्वरूपदृष्टिकी मस्तीमें और परमात्मपदकी भावना हेतु निकले ये वचनामृत हैं। साथ ही साथ आत्मकल्याणको चाहनेवाले, तथापि परमार्थ आत्मस्वरूपको

और कल्याणके मार्गको नहीं समझनेवाले अनेक जीव (संप्रदायमें) अपनी मतिकल्पनासे विविध प्रवृत्तिओंमें प्रवर्तन करते हुए, बंधमार्गमें ही मोक्षमार्गकी कल्पना करके (विविध उपायसे) मोक्ष पानेके बज़ाय संसारमें परिभ्रमण-वृद्धि करते हुए देखकर, निष्कारण करुणाशील ऐसा उनका हृदय रोता है।

चैत्र सुदी १३, श्री १००८ महावीर भगवान जन्म-कल्याणक दिन पर तीर्थंकरदेवके शासनमें प्रवर्तीत जीवोंके उद्देश्यसे करुणार्द चित्तसे निकले हुए उनके ये उद्‌गार, सच्ची जिज्ञासासे सजीवनमूर्तिकी खोज़में निकले, उत्तम पात्र जीवको परमकल्याणमें निमित्तभूत हो, वैसे हैं।

संप्रदायमें चल रहे जीव भूतकालमें हुए श्री महावीर भगवानके दर्शनके लिये पूजा-यात्रा इत्यादि करते हैं, तथापि उन जीवोंको श्री भगवानके दर्शन कहाँसे होंगे ? क्योंकि वर्तमानमें विद्यमान ज्ञानी, कि जो मुमुक्षुजीवको मार्गप्राप्तिके लिये तीर्थंकर भगवान तुल्य निमित्तत्वके धारक हैं; फिर भी उनकी तथारूप पहचान नहीं होनेसे, उनसे उपेक्षित होकर, अविद्यमान (भूतकालके) भगवंतको खोज़ते हैं तो उनका दर्शन कहाँसे होगा ?

ऐसा कहकर, कृपालुदेवने ज्ञानीपुरुषके प्रत्यक्षयोगका महत्त्व बताया है। जो सचमुच वास्तविक है। इसी अपेक्षासे उनके ये अमृत उद्‌गारोंकी स्फुरणा हुई है कि अगर कोई वर्तमानमें सचमुच संसार-तापसे त्रस्त हो और अंतरसे मुक्त होनेका आकांक्षावान हो तो उनके लिये तीन कालकी अशांति और विभावके विषको शांत करनेके लिये स्वयं अमृत सागर या कल्पवृक्ष ही है।

अधिक क्या कहें ? इस विषमकालमें स्वयं परम शांतिके धामरूप परमात्मतत्त्वमें अभेद भावसे स्थित होनेसे, मुमुक्षुजीवोंके लिये दूसरे

श्री राम या श्री महावीर ही है; क्योंकि भूतकालमें ये महापुरुषों जिस प्रकार अनेक जीवोंके आत्मकल्याणमें निमित्त हुए, उसी प्रकार स्वयं उपकारक निमित्त हो सकते हैं।

उक्त वचनोंकी शैलीके कारण किसीको गलतफहमी न हो इसलिये अंतमें उन्होंने स्पष्टता की है - हमारे इन वचनोंमें हमारी परमात्मपनेका कोई अभिमान नहीं है। अपितु हमारा स्वानुभव है, अर्थात् परम आत्मभावसे स्वसंवेदनपूर्वक हमें हमारे परमात्मस्वरूपका अनुभव हुआ है, इसलिये हम वह मार्ग बतानेके लिये योग्य हैं। आत्म-सामर्थ्यके विश्वासमेंसे इन वचनोंका उद्भव हुआ है; और कर्मबंधनसे दुःखी हो रहे जगतके जीवोंके प्रति निष्कारण करुणाशीलवृत्तिसे अपने हृदयचित्रको प्रदर्शित करनेकी प्रेरणारूप लिखे गये हैं।

अहो ! सत्पुरुषकी असीम निष्कारण करुणा ! अहो ! उनकी अध्यात्मकी मस्ती!

६८२

बंबई, चैत्र वदी १, सोम, १९५२

``अभी कुछ समयसे ऐसी स्थिति रहती है कि कभी ही पत्रादि लिखना हो पाता है, और वह भी अनियमितरूपसे लिखा जाता है। जिस कारण-विशेषसे तथारूप स्थिति रहती है उस कारणविशेषकी ओर दृष्टि करते हुए कुछ समय तक वैसी स्थिति रहनेकी सम्भावना दिखायी देती है। मुमुक्षुजीवकी वृत्तिको पत्रादिसे कुछ उपदेशरूप विचार करनेका साधन प्राप्त हो तो उससे वृत्तिका उत्कर्ष हो और सद्विचारका बल वर्धमान हो, इत्यादि उपकार इस प्रकारमें समाविष्ट हैं; फिर भी जिस कारणविशेषसे वर्तमान स्थिति रहती है, वह स्थिति

वेदन करने योग्य लगती है।''

यहाँ, स्वयंकी आभ्यंतर-दशा सम्बन्धित तारतम्यताका गूढ़ भाषामें अंगुलीनिर्देश है। वर्तमानमें कुछ समयसे आभ्यंतर अध्यात्मपरिणतिमें तारतम्यता वृद्धिगत होनेसे, आत्माकी स्थिति ऐसी हो गई है कि पत्रका प्रत्युत्तर आदि लिखनेका शायद ही कभी बनता है, और वह भी अनियमितरूपसे लिखना होता है। आत्मदशाकी अंतर्मुखताके कारण बाह्याकारप्रवृत्ति अत्यंत मर्यादित हो गई है, इसलिये ऐसा प्रकार हुआ है। इस आभ्यंतरदशाकी बलवतरता देखते हुए अभी कुछ समय तक ऐसी स्थिति चालू रहेगी, ऐसा संभव दिखता है। परिणतिका इस प्रकारका अंतर्मुखी वेग, बाह्यकार्यमें परिणामको चलने नहीं देता, ऐसा सहज है।

परन्तु ऐसा होनेसे स्वयंके पत्रोंसे, जो कि मुमुक्षुजीवको उपदेशका विचार करनेमें और सद्विचार बल बढ़नेमें निमित्त-साधन है, और जिससे उनकी भावना आदि सद्वृत्तिओंका उत्कर्ष हो, इत्यादि प्रकार उसमें समाविष्ट हैं; यह जानते हुए भी वैसी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है; तथापि आराधनाकी उग्रतारूप-कारणविशेषकी वज़हसे उक्त प्रकारसे प्रवर्तन होनेसे, आराधनामें प्रवर्तन करना योग्य लगता है।

इस पत्रका तात्पर्य यह है कि, परहित-निमित्तक प्रवृत्ति और निजहितकी प्रवृत्तिमें, सर्वप्रथम निजहित कर्तव्य है; परन्तु निजहितको गौण करके, परहित कर्तव्य नहीं है और वह संभवित भी नहीं है। धर्म-प्रभावनाकी यह नीतिका सनातन जिनमार्गमें सर्व महात्माओंने पालन किया है। अतः कृपालुदेवके इस पत्रमें, पारमार्थिक कार्यपद्धतिकी नीति विषयक सुंदर मार्गदर्शन, स्वयंके जीवनसे मिलता है।

६९६

बंबई, आषाढ़ वदी ८, रवि, १९५२

``एक धारासे वेदन करने योग्य प्रारब्धका वेदन करते हुए कुछ एक परमार्थ व्यवहाररूप प्रवृत्ति कृत्रिम जैसी लगती है, इत्यादि कारणोंसे मात्र पहुँच लिखना भी नहीं हुआ। चित्तको जो सहज भी आलंबन है, उसे खींच लेनेसे वह आर्त्तता प्राप्त करेगा, ऐसा जानकर उस दयाके प्रतिबंधसे यह पत्र लिखा है।''

पूर्वप्रारब्ध, पुरुषार्थकी एक धारासे वेदन करने योग्य है - ऐसा उनका अभिप्राय है और पुरुषार्थ भी है। इस प्रकार प्रारब्धका वेदन करते हुए दूसरी कोई परमार्थ व्यवहाररूप प्रवृत्ति (पत्र लिखना या धर्मचर्चा) करनी पड़े, वह सहज होना नामुमकिन होनेसे, वैसी प्रवृत्ति कृत्रिम जैसी लगती है। पुरुषार्थकी मुख्यतामें व्यवहार-प्रवृत्ति गौण करने योग्य है। इसलिये प्रवृत्ति करनेकी इच्छा नहीं है, फिर भी वह प्रवृत्ति करनी पड़े तो उसमें सहजता नहीं रहती, और सूक्ष्मरूपसे अवलोकन करने पर अल्प कृत्रिमता लगती है; जिससे मुमुक्षुओंके आये हुए पत्रोंकी मात्र पहुँच लिखनेका भी नहीं हुआ है। मुमुक्षुओंके साथ परमार्थ-विषयक पत्र लिखनेमें मनको थोड़ा बाह्य अवलंबन रहता है, उतना अवलंबन भी खींच लेनेसे, शायद चित्त आर्त्तताका अनुभव करेगा, `(मैं नहीं', क्योंकि `चित्तसे मैं भिन्न हूँ,' मुझे बाह्य आलंबनकी आवश्यकता भी नहीं है, ऐसा भिन्न भाव चित्तके प्रति यहाँ व्यक्त होता है।) ऐसा जानकर उस चित्तके प्रति दयाके रागरूप प्रतिबंधसे यह पत्र लिखा है।

६९७

बंबई, आषाढ़ वदी ८, रवि, १९५२

``आत्माको मूलज्ञानसे चलायमान कर डाले ऐसे प्रारब्धका वेदन करते हुए ऐसा प्रतिबंध उस प्रारब्धके उपकारका हेतु होता है, और किसी विकट अवसरमें एक बार आत्माको मूलज्ञानके वमन करा देने तककी स्थितिको प्राप्त करा देता है, ऐसा जानकर, उससे डरकर आचरण करना योग्य है, ऐसा विचारकर पत्रादिकी पहुँच नहीं लिखी; सो क्षमा करें ऐसी नम्रतासहित प्रार्थना है।''

कृपालुदेवका यह लाक्षणिक प्रत्युत्तर है। उदयकालमें उदयप्रसंगको, भिन्न रहकर वेदन करनेके पुरुषार्थके यहाँ दर्शन होता है। स्वयं सततरूपसे अंतरपुरुषार्थमें इतने निमग्न हैं कि परमार्थ-विषयक पत्रव्यवहार भी छूट जाता है।

उन्हें प्रारब्धका ऐसा विकट उदय इस अवसर पर चल रहा है कि जो आत्माको मूलज्ञानसे चलित कर दे; और यदि विशेषरूपसे स्वरूप सावधानी न रही तो एक दफ़ा आत्माको निजज्ञानसे वमन करा देवे यहाँ तककी परिस्थिति हो जाय; ऐसा जानकर - डर कर आचरण करना योग्य है - ऐसे विचारसे, पत्रादिकी पहुँच तक नहीं लिखी गई। - ऐसे प्रवर्तनमें उनकी असाधारण विचक्षणताका दर्शन होता है। आत्मकार्यके अनुलक्षसे तो वह योग्य ही किया है। फिर भी सामनेवाले जीवको व्यवहारसे अनुकूल न होनेके कारण, लोकोत्तर सज्जनतापूर्वक, नम्रतापूर्वक उन्होंने क्षमा याचना की है। स्वयं एक असाधारण महापुरुष होने पर भी मानादिकी कल्पना छोड़कर, मुमुक्षुकी जिज्ञासाको न्याय नहीं दे सकते हैं, ऐसा जानकर क्षमायाचना की है।

ज्ञानीपुरुषकी इस प्रकारकी आशयगंभीरता, धीरज, उपशम और

पुरुषार्थप्रधानरूपसे प्रवर्तन करनेकी कार्यपद्धति सचमुच आश्चर्यकारक है! अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो! उनकी लोकोत्तर गुणगंभीरताको !

७०८

राळज, भादों, १९५२

``यदि सचमुच उपदेशक पुरुषका योग बने तो बहुतसे जीव मूलमार्ग प्राप्त कर सकते हैं, और दया आदिका विशेष उद्योत हो सकता है। ऐसा दिखायी देनेसे कुछ चित्तमें आता है कि यह कार्य कोई करे तो बहुत अच्छा; परन्तु नजर दौड़ानेसे वैसा पुरुष ध्यानमें नहीं आता, इसलिये लिखनेवालेकी ओर ही कुछ नजर जाती है; परन्तु लिखनेवालेका जन्मसे लक्ष्य ऐसा है कि इसके जैसा एक भी जोखिमवाला पद नहीं है, और जब तक अपनी उस कार्यकी यथायोग्यता न हो तब तक उसकी इच्छा मात्र भी नहीं करनी चाहिये, और बहुत करके अभी तक वैसा ही वर्तन किया गया है। मार्गका यत्किंचित् स्वरूप किसी-किसीको समझाया है, तथापि किसीको एक भी व्रतपच्चक्खान दिया नहीं है, अथवा तुम मेरे शिष्य हो और हम गुरु हैं, ऐसा प्रकार प्रायः प्रदर्शित हुआ नहीं है। कहनेका हेतु यह है कि सर्वसंगपरित्याग होनेपर उस कार्यकी प्रवृत्ति सहज स्वभावसे उदयमें आये तो करना, ऐसी मात्र कल्पना है। उसका वास्तवमें आग्रह नहीं है, मात्र अनुकंपा आदि तथा ज्ञानप्रभाव है, इससे कभी-कभी वह वृत्ति उद्भवित होती है, अथवा अल्पांशमें वह वृत्ति अंतरमें है, तथापि वह स्ववश है। हमारी धारणाके अनुसार सर्वसंगपरित्यागादि हो तो हजारों मनुष्य मूलमार्गको प्राप्त करें, और हजारों मनुष्य उस सन्मार्गका आराधन करके सद्गतिको प्राप्त करें, ऐसा हमारे द्वारा होना सम्भव है। हमारे संगमें अनेक जीव

त्यागवृत्तिवाले हो जाये ऐसा हमारे अंतरमें त्याग है। धर्म स्थापित करनेका मान बड़ा है; उसकी स्पृहासे भी कदाचित् ऐसी वृत्ति रहे, परन्तु आत्माको बहुत बार कसकर देखनेसे उसकी सम्भावना वर्तमान दशामें कम ही दिखती है; और किंचित् सत्तामें रही होगी तो वह क्षीण हो जायेगी, ऐसा अवश्य भासित होता है, क्योंकि यथायोग्यताके बिना, देह छूट जाये वैसी दृढ़ कल्पना हो तो भी, मार्गका उपदेश नहीं करना, ऐसा आत्मनिश्चय नित्य रहता है। एक इस बलवान कारणसे परिग्रह आदिका त्याग करनेका विचार रहा करता है।''

इस पत्रमें जिनेश्वरदेवके मूलमार्गका उद्योत होनेके लिये अपने चलते हुए परिणाम सम्बन्धी उल्लेख किया है।

वर्तमानमें, शासनमें रहे जीवोंकी योग्यता देखते हुए उन्हें ऐसा भासित होता है कि - यदि वास्तवमें किसी सच्चे उपदेशक पुरुषका योग बने तो बहुतसे जीव मूलमार्गको प्राप्त कर सकते हैं। और समाजमें दया आदि कार्योंका विशेष फैलाव हो सकता है।

ऐसा दिखने पर यह विचार रहता है कि, यह कार्य यदि कोई करे तो अच्छा। परन्तु समाज पर दृष्टि करने पर ऐसा कोई योग्य गुणवान पुरुष ध्यानमें नहीं आता; इसलिए स्वयं के ऊपर कुछ दृष्टि आती है; क्योंकि ऐसे कार्यके लिये खुदकी योग्यता दिखती है। स्वयंको आत्मज्ञान सहित सातिशय ज्ञान-प्रभाव रहता है। इतना ही नहीं, अंतरंगमें त्यागवृत्ति भी है; तथापि शुरूसे ही ऐसा लक्ष्य रहा है कि उपदेशकका पद अत्यंत ज़ोखिमवाला है, अतः बाह्य परिस्थितिका विचार करते हुए अभी ऐसी इच्छा भी नहीं करनी चाहिये; इस गिनतीपूर्वक अभी तक ऐसा ही वर्तन किया है। यद्यपि मार्गका स्वरूप यत्किंचित किसी -किसीको समझाया है

तथापि गुरुत्व भावमें रहकर किसीको व्रतपच्चक्खान नहीं दिये हैं। इसके पीछे ऐसा आशय है कि जब तक सर्वसंग परित्याग न हो तब तक मार्गउपदेशकरूप प्रवृत्ति नहीं करनी है। परंतु भविष्यमें सर्वसंगपरित्याग होने पर उस कार्यकी प्रवृत्ति सहजरूपसे उदयमें आये तो करना, ऐसा विचार है; परन्तु आग्रह नहीं है। मात्र अनुकम्पादि रहते हैं इसलिये कभी-कभी वह वृत्ति उठती है, जो अल्पांशमें है, और स्ववश है।

उन्हें ऐसा भासित होता है कि यदि खुदको सर्वसंगपरित्याग आदि सहज दशा उत्पन्न हो तो, उस निमित्तसे हजारों मनुष्य मूलमार्गको प्राप्त हो और सन्मार्गका आराधन करके सद्‌गतिको प्राप्त हो। हमारे संगमें बहुत जीव त्यागवृत्तिवाले हो जाये, ऐसा हमारे मन, वचन, कायाके योगमें त्याग है, इसलिये उक्त विचार आते हैं परन्तु उपदेशक पुरुषको धर्मस्थापनाका बड़ा मान मिलता है, और मान चढ़ जाने पर अधःपतन होता है, ऐसा प्रथमसे ही समझमें होनेसे, उपदेशकके पद जैसा ज़ोखिम दूसरा नहीं है। अतः मानादिकी स्पृहासे भी ऐसी वृत्ति नहीं हुई, ऐसा अपने परिणामोंका अनेक बार अवलोकन करके जाँच की है और कसकर देखा है। क्योंकि उस विषयमें परिपक्व योग्यता न हो तब तक उस कार्यकी इच्छा भी न करना, और मार्गका उपदेश न करना - ऐसा आत्मनिश्चय वर्तता है। परन्तु ऐसा कार्य स्व-पर हितका बलवान कारण होनेसे परिग्रहादि त्याग करनेका विचार रहा करता है।

उक्त वचनामृतोंमें परमकारुण्यवृत्तिका विशेषरूपसे दर्शन होता है। परिग्रहादिका त्याग उपकारी होनेपर भी, सहजभावसे - ममत्वरहितभावसे परिग्रहादिक संयोगोंके बीच रहकर स्वयं आत्महित कर रहे हैं, ऐसी परिस्थितिमें जिनेश्वरदेवके मूलमार्गके उद्योतका

मुद्दा उपस्थित होनेसे, उस विषयमें अनेक पहलूओं सहित जो कुछ अपने विचार और परिणाम हुए, वह यहाँ व्यक्त किये हैं।

जीव अपनी कल्पनासे किसी भी प्रकारसे सत्‌को प्राप्त नहीं कर सकता। सजीवनमूर्तिके प्राप्त होनेपर ही सत् प्राप्त होता है, सत् समझमें आता है, सत्‌का मार्ग मिलता है और सत्‌पर ध्यान आता है। सजीवनमूर्तिके लक्षके बिना जो कुछ भी किया जाता है, वह सब जीवके लिये बन्धन है। यह मेरा हार्दिक अभिमत है।

(कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी)

अवश्य इस जीवको प्रथम सर्व साधनोंको गौण मानकर निर्वाणके मुख्य हेतुभूत सत्संगकी ही सर्वार्पणतासे उपासना करना योग्य है; कि जिससे सर्व साधन सुलभ होते हैं, ऐसा हमारा आत्मसाक्षात्कार है।

(कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी)

३० वाँ वर्ष

७९०

बंबई, श्रावण सुदी ३, रवि, १९५३

``बलवान और वेदन किये बिना अटल उदय होनेसे अंतरंग खेदका समतासहित वेदन करते हैं। दीर्घकालको अति अल्पकालमें लानेके ध्यानमें रहते हैं।''

कृपालुदेवको जिनोक्त प्रतिपादित त्याग-व्यवहारकी भावना अत्यंतरूपसे रहती है; परन्तु बलवान और वेदन किये बिना अटल ऐसा उदय होनेसे, समतासहित वेदन किया जाता है। परिग्रहादिक प्रवृत्तिमें रहना पड़ता है; उसका अंतरंग खेद रहता है, तथापि ज्ञानसे समाधान रहता है।

परिग्रहादिक प्रवृत्ति कर्मकृत है, जो स्वयंके ही पूर्वोपार्जित कर्म हैं, उसका समभावसे वेदन करना और अभिप्रायपूर्वक उसमें अनिष्टपना न होना, यह प्रकार सम्यक् है; और सम्यक् पुरुषार्थ सहित वेदन करने पर निर्जरा होनेमें कारणभूत है। तद्उपरांत सत्तामें रहे संचितकर्मोंकी स्थिति भी अपकर्षण होकर - दीर्घकालमें से परिवर्तित होकर, अल्पकालकी होती है; ऐसे प्रकारसे आत्मध्यानमें रहा जाता है।

उक्त प्रकारसे वे त्वरित गतिसे मोक्षमार्गमें आगे बढ़ रहे हैं, अर्थात् जोशपूर्वक आगे बढ़ रहे हैं; जो कि मुमुक्षुजीवको बोध लेनेके लिये एक जीवंत निमित्त है अथवा दृष्टांत है।

सामान्यतः रागके निमित्तोंका त्याग किये बिना वीतरागताकी उपासना नहीं हो सकती, ऐसे विचार व अभिप्रायसे, जिव उदयके बीच रहकर, अंतर्मुख होनेके मार्गको नहीं साधता; (बल्कि) हठसे त्यागमार्गमें प्रवृत्ति करता है; इस वज़हसे अंतर्मुख होनेके मूलमार्ग

पर लक्ष्य नहीं जाता। यहाँ परम कृपालुदवेके जीवनमें पूर्वकर्मके उदय अनुसार प्रवृत्ति के बीच भी अंतर्मुखताके मार्गको साधनेकी कला प्राप्त हो सके, ऐसी आचरणा देखने मिलती है, जो अलौकिक उपकारभूत है।

✧

३२ वाँ वर्ष

८५१

मोहमयी क्षेत्र, कार्तिक सुदी १४, गुरु, १९५५

``अभी मानसिक वृत्तिकी अपेक्षा बहुत ही प्रतिकूल मार्गमें प्रवास करना पड़ता है। (उदयभावको) तप्तहृदयसे और शांत आत्मासे सहन करनेमें ही हर्ष मानता हूँ।''

अपने अभिप्रायसे विरुद्ध बाह्य परिस्थितिका अनुसरण करना पड़ता है, तत्संबंधित यह वचनामृत गूढ़ भाषामें लिखा गया है।

स्वयंका अभिप्राय तो पूर्ण वीतराग होनेका है, और तद्अनुसार अध्यात्मदशाकी प्राप्ति हुई है। एक भी विकल्प, आँखमें कण नहीं सहन कर सकते हो, वहाँ रेत उठानेकी माफ़िक, वर्तमान निराकुलदशाको प्रतिकूल है, अर्थात् अनेक विकल्पयुक्त प्रवृत्तिमेंसे गुज़रना पड़ता है; ऐसा प्रवास अंतरदशासे बहुत ही प्रतिकूल है। तत्संबंधित उदयभावोंको तप्तहृदयसे फिर भी आत्मशांतिपूर्वक सहन कर लेना और उस प्रकार पूर्व प्रारब्धका अंत लानेमें हर्ष मानना - इसप्रकार परस्पर विरुद्ध अंशवाले भाव परमार्थकी अपेक्षा अविरोधताको प्राप्त होकर आत्मलाभरूप होते हैं, उसे सम्यक् समाधानरूप जानने योग्य है।

उक्त वचनामृतसे कृपालुदेवकी दशामें आत्मशांतिका सविशेष विकास प्रदर्शित होता है।

✧

वर्ष ३३ वाँ

९०१

बंबई, कार्तिक सुदी १५, १९५६

``हे आर्य मुनिवरों ! इसी असंग शुद्ध-चैतन्यके लिये असंगयोगकी हम अहर्निश इच्छा करते हैं।''

उनकी २९-३०सालकी युवा अवस्था होते ही निर्ग्रंथदशाकी तीव्र भावना होनेका स्पष्ट निर्देश उनकी लेखनीसे और `अपूर्व-अवसर' काव्य परसे स्पष्ट समझमें आता है। उस भावना अनुसार सहजरूपसे सम्यक् पुरुषार्थ भी वृद्धिगत हुआ है; और उसीके अनुसंधानमें असंग शुद्ध चैतन्यमें लीन रहनेके लिये असंगयोगको यानी कि बाह्याभ्यंतर निर्ग्रंथताको रात्रि-दिन चाहते हैं। इतना ही नहीं जो महात्माएँ निर्ग्रंथदशामें रहकर असंग चैतन्यमें लीन हुए, होते हैं और होंगे उन सर्वको भक्तिपूर्वक नमस्कार किये हैं।

९१२

धर्मपुर, चैत्र वदी १, रवि, १९५६

``बाह्य और अंतर समाधियोग रहता है।''

इन दिनों परमकृपालुदेव निवृत्तिक्षेत्रमें अंतर-बाह्य ज्ञान-ध्यानकी प्रवृत्ति हेतु रहे हैं। विशेष साधनामें रहते हुए अंतर-बाह्य समाधियोगमें रहे हैं - ऐसा उक्त वचनामृतमें उल्लेख हुआ है। नमस्कार हो ! उनकी वीतरागी आराधनाको !

९१७

अहमदाबाद, भीमनाथ, वैशाख सुदी ६, १९५६

``एक श्लोक पढ़ते हुए हमें हजारों शास्त्रोंका भान होकर

उसमें उपयोग घूम आता है (अर्थात् रहस्य समझमें आ जाता है)।''

उक्त वचनामृतमें कृपालुदेवके सातिशय श्रुतज्ञानका दर्शन होता है। शास्त्रका कोई एक श्लोकको पढ़ते हुए उनका हज़ारों शास्त्रोंमें तत्संबंधित श्रुतज्ञानके भानसहित उपयोग घूम जाता है। -यह प्रकार उनकी अलौकिक श्रुतकी लब्धिको प्रकाशित करता है। आत्मस्वरूपमें विशेष लीनताका जिस धर्मात्माको अभ्यास रहता हो, उन्हें श्रुतज्ञानकी विशेष निर्मलताके उपरांत, अलौकिक लब्धि प्राप्त होती है। श्रुतलब्धिधारी साधकसंतोंको अत्यंत भक्तिसे त्रियोगसे नमस्कार हो!

९३३

ववाणिया, ज्येष्ठ वदी, १९५६

``अपूर्व शांति और समाधि अचलतासे रहती है।''

इस संक्षिप्त पत्रमें भी शारीरिक स्वास्थ्यकी मुख्यरूपसे असाता रहती होने पर भी, स्वयंकी अध्यात्मदशाका उल्लेख किया है कि आत्मामें अपूर्व शांति और वीतरागदशारूप समाधि अचलतासे रहती है। एक तरफ शारीरिक स्वास्थ्य निर्बल होता जाता है, तो दूसरी तरफ उनका आत्मिक स्वास्थ्य बलवान होता जाता है। ऐसा यहाँ पर स्पष्ट होता है। उनका आराधकभावमें सुदृढ़ पुरुषार्थ चल रहा है।

दूसरी सभी प्रवृत्तियोंकी अपेक्षा जीवको योग्यता प्राप्त हो ऐसा विचार करना योग्य है; और उसका मुख्य साधन सर्व प्रकारके कामभोगसे वैराग्यसहित सत्संग है।

(कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी)

३४ वाँ वर्ष

९५१

राजकोट, फागुन वदी ३, शुक्र, १९५७

``अति त्वरासे प्रवास पूरा करना था। वहाँ बीचमें सहराका रेगिस्तान सम्प्राप्त हुआ।

सिरपर बहुत बोझ रहा था उसे आत्मवीर्यसे जिस तरह अल्पकालमें वेदन कर लिया जाये उस तरह योजना करते हुए पैरोंने निकाचित उदयमान थकान ग्रहण की।

जो स्वरूप है वह अन्यथा नहीं होता, यही अद्‌भुत आश्चर्य है। अव्याबाध स्थिरता है।

शरीर-स्थिति उदयानुसार मुख्यतः कुछ असाताका वेदन कर साताके प्रति।''

परमकृपालुदेवकी सम्यक्‌पुरुषार्थ सहित प्रथमसे ही ऐसी भावना थी कि परिभ्रमणका प्रवास त्वरासे (इसी भवमें) पूरा करना, और तद्‌अनुसार उन्होंने पुरुषार्थ उठाया था, वहाँ बीचमें शरीर रोगरूप सहराका रेगिस्तान सम्प्राप्त हुआ।

पूर्व संचित कर्मका बोझ कर्ज़रूप अपने सिरपर बहुत था, उसे आत्मिक पुरुषार्थसे जिस तरह अल्पकालमें वेदन कर लिया जाये, ऐसे अप्रतिहत पुरुषार्थकी योजना भी की, और जैसे ही स्वरूपमें पुरुषार्थकी दौड़ लगायी कि पेरौंने (शरीरधर्मने) निकाचित यानी कि जिसमें कोई फेरफार नहीं हो सके, ऐसी उदयमान विध्नरूप थकान ग्रहण की।

वर्तमान पंचमकालमें पुरुषार्थकी पूर्णता प्रगट करके परमात्मपदकी प्राप्ति और निर्वाणपद प्राप्त हो, ऐसी योग्यतावाले आत्मा इस क्षेत्रमें, इस कालमें जन्म नहीं लेते। (इस कालमें निर्वाणपदको प्राप्त करनेवाले

महाविदेह क्षेत्रमें जन्म लेते हैं) ऐसा वस्तुस्वरूप है - जो केवलज्ञान द्वारा परमागमोंमें प्रसिद्ध हुआ है। उसमें कुछ अन्यथा नहीं होता, ऐसा जो केवलज्ञानका आश्चर्यकारी स्वरूप, उसकी प्रतीति हुई है, और आत्मामें तो शरीररोगसे बाधा न हो, ऐसी अव्याबाध स्थिरता रहती है।

उन्होंने पूर्णताकी प्राप्ति हेतु उग्र पुरुषार्थ उठाया था, फिर भी एक भव बाकी रहे, ऐसी स्थिति अंतमें रह गई। यही नियतिका अद्‌भुत आश्चर्य है। साथ ही साथ सम्यक् समाधानपूर्वक परिणमनमें अव्याबाध स्थिरता है।

शरीर प्रकृत्तिके उदय अनुसार असाताका वेदन होता है, तथापि उन्होंने शांतभावसे वेदन किया है। असाताका वेदन गौण रहा है। जिससे भावि असाताके बंधका निमित्त नहीं हुई, परन्तु पूर्व असाताकर्मकी निर्जरा हुई है। जिसके कारण भविष्यमें अनंत-अनंत समाधिसुखकी, अनंत दर्शन और अनंत ज्ञान सहित, स्थितिको प्राप्त होंगे।

सत्पुरुषोंका सनातन सन्मार्ग जयवंत वर्तो !!

आभ्यंतर परिणाम अवलोकन

१८

(संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ ३९)

`परानुग्रह परम कारुण्यवृत्तिकी अपेक्षा भी प्रथम चैतन्य जिनप्रतिमा हो। चैतन्य जिनप्रतिमा हो।'

उक्त वचनामृतमें अन्य जीवोंके प्रति कल्याणमें निमित्त होनेकी परम कारुण्यवृत्ति और अन्य जीवोंके प्रति अनुग्रह, इससे भी, निज चैतन्यस्वरूपमें जिनप्रतिमावत् स्वरूप-स्थिरतामें रहनेकी मुख्यता होनेका अभिप्राय प्रदर्शित करके आत्मस्थिरताकी भावना भायी है।

इस परसे ऐसा बोध प्राप्त होता है कि अन्य जीवोंके प्रति कारुण्यवृत्तिपूर्वक धर्मप्रभावनाकी प्रवृत्तिको मुख्यता देकर आत्मश्रेयकी वृत्तिको / पुरुषार्थको गौण करने योग्य नहीं है। निजहित साधनेवाला परहितमें निमित्त हो सकता है। वही यथार्थ प्रकार है। स्वहितको गौण करके परलक्ष्यी धर्म-प्रवृत्ति हो, यह यथार्थ नहीं है।

२०

(संस्मरण-पोथी २, पृष्ठ-४५)

``हे सर्वोत्कृष्ट सुखके हेतुभूत सम्यग्दर्शन ! तुझे अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो !

इस अनादि-अनंत संसारमें अनंत-अनंत जीव तेरे आश्रयके बिना अनंत-अनंत दुःखका अनुभव करते हैं।

तेरे परमानुग्रहसे स्वरूपमें रुचि हुई, परम वीतराग स्वभावके प्रति परम निश्चय हुआ, कृतकृत्य होनेका मार्ग ग्रहण हुआ।

हे जिन वीतराग ! आपको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करता हूँ। आपने इस पामरपर अनंत-अनंत उपकार किया है।

हे कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधानमें इस पामरको परम उपकारभूत हुए हैं। इसके लिये मैं आपको अतिशय भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

हे श्री सोभाग ! तेरे सत्समागमके अनुग्रहसे आत्मदशाका स्मरण हुआ, उसके लिये तुझे नमस्कार करता हूँ।''

उक्त वचनामृतोंमें सम्यक्दृष्टिसे लेकर वीतराग जिनेश्वर पर्यंत उपकारी महात्माओंके प्रति अत्यंत भक्तिभावसे नमस्कार-वचन लिखे गये हैं।

उसमें प्रथम सम्यक्दर्शनको सर्वोत्कृष्ट सुखका कारणभूत गिनकर नमस्कार किया है। उसमें तीनोंकालके सम्यक्दृष्टि धर्मात्माओंके प्रति भक्ति की है। और साथ ही साथ सिद्धांत बताया है कि अनादि अनंत संसारमें अनंत-अनंत जीवोंको सम्यक्दर्शनकी प्राप्ति न होनेसे अनंत दुःख भोगना पड़ता है। अतः यह सिद्ध होता है कि - सम्यक्दृष्टि जीव तीनों लोकमें जहाँ भी हो, वहाँ आत्मसुखको भोगते हैं और अंततः निर्वाणपदके अनंत सुखको प्राप्त करते हैं।

ऐसे सम्यक्दर्शनके परम अनुग्रहसे स्वयंको भी स्वस्वरूपमें रुचि हुई है और अपने अनुभवज्ञानमें पूर्ण वीतराग स्वभावका परम निश्चय हुआ है, और पूर्ण कृतकृत्य होनेका मार्ग ग्रहण हुआ है।

श्री वीतराग जिनेश्वरदेवको अत्यंत भक्तिभावसे संबोधन करके नमस्कार किये हैं। क्योंकि उनका भी खुदके ऊपर (परम्परासे) अनंत उपकार है। इस वचनामृतमें जिनेश्वरदेवकी महानताके आगे अपनी पामरताका भी उल्लेख किया है। तत् प्रश्चात् -

श्री कुन्दकुन्दादि आचार्योंको भी, उनके वचन खुदको स्वरूपअनुसंधान होनेमें अर्थात् आत्मानुभवकी प्राप्तिमें उपकारभूत हुए हैं, इसलिये खुदको पामर गिनाकर, अतिशय भक्तिसे नमस्कार किये

हैं। इस वचन पर ऐसा लगता हैं कि दिगंबर आचार्यों रचित महान परमागमोंके अध्ययनसे इस भवमें, प्रत्यक्ष सद्‌गुरुका निमित्त नहीं होने पर भी स्वयंको निसर्ग सम्यक्‌दर्शनकी प्राप्ति हुई है। और इसलिये उपकारी श्रीगुरुके प्रति स्वयंका भक्तिभाव प्रदर्शित किया है। तत्पश्चात -

अपने परम मित्र और शिष्य श्री सौभाग्यभाई कि जिनके सत्समागमके निमित्तसे स्वयंको इस भवमें आत्मदशाका स्मरण हुआ और सुविचारणपूर्वक आत्मजागृति चालू हुई। जिसके फलस्वरूप मोक्षमार्गमें प्रवेश हुआ, इसलिये उन्हें भी उपकारी गिनकर नमस्कार किये हैं। यह कृपालुदेवकी लोकोत्तर नम्रता है।

परम कृपालुदेवका लोकोत्तर विनयगुण और उपकारी महात्माके प्रति भक्तिभाव, मुमुक्षुजीवको अनुकरणीय और परम आदरणीय है। इस प्रकारकी नम्रतासे वास्तवमें तो उनकी महानताका ही दर्शन होता है।

धन्य हो उनकी आराधनाको !
परम भक्तिसे नमस्कार हो उनकी साधनाको !

श्री वीतराग सत्‌साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
उपलब्ध प्रकाशन (हिन्दी)

	ग्रंथ का नाम एवं विवरण	मूल्य
०१	अनुभव प्रकाश (ले. दीपचंदजी कासलीवाल)	-
०२	आत्मयोग (श्रीमद् राजचंद पत्रांक-४६९, ४९१, ६०९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
०३	अनुभव संजीवनी (पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा लिखे गये वचनामृत्तोंका संकलन)	१५०-००
०४	आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन (पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा)	५०-००
०५	आत्मअवलोकन	-
०६	बृहद द्रव्यसंग्रह	अनुपलब्ध
०७	द्रव्यदृष्टिप्रकाश (तीनों भाग-पूज्य श्री निहालचंदजी सोगानीजीके पत्र एवं तत्वचर्चा)	३०-००
०८	दूसरा कुछ न खोज (प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०६-००
०९	दंसणमूलो धम्मा (सम्यक्त्व महिमा विषयक आगमोंके आधार)	०६-००
१०	धन्य आराधना (श्रीमद राजचंद्रजीकी अंतरंग अध्यात्म दशा पर ॅ पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)	-
११	दिशा बोध (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१६६, ४४९, ५७२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१२	धन्य पुरुषार्थी	-
१३	धन्य अवतार	-
१४	गुरु गुण संभारणा (पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन द्वारा गुरु भक्ति)	१५-००
१५	गुरु गिरा गौरव	-
१६	जिणसासणं सव्वं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०८-००
१७	कुटुम्ब प्रतिबंध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१०३,३३२,५१०, ५२८,५३७ एवं ३७४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१८	कहान रत्न सरिता (परमागमसारके विभिन्न वचनामृतों पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	३०-००
१९	मूलमें भूल (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके विविध प्रवचन)	०८-००
२०	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-२५४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	-

२१ मुक्तिका मार्ग (सत्ता स्वरूप ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचन) १०-००
२२ निर्भ्रांत दर्शनकी पगडंडी (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई) १०-००
२३ परमागमसार (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके १००८ वचनामृत्त) -
२४ प्रयोजन सिद्धि (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई) ०४-००
२५ परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१९५, १२८, २६४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन) २०-००
२६ प्रवचन नवनीत (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन) २०-००
२७ प्रवचन नवनीत (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन) २०-००
२८ प्रवचन नवनीत (भाग-३) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ नय के खास प्रवचन) २०-००
२९ प्रवचन नवनीत (भाग-४) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ शक्ति के खास प्रवचन) २०-००
३० प्रवचन सुधा (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन) २०-००
३१ प्रवचन सुधा (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन) २०-००
३२ प्रवचनसार अनुपलब्ध
३३ प्रंचास्तिकाय संग्रह अनुपलब्ध
३४ सम्यक्ज्ञानदीपिका (ले. श्री धर्मदासजी क्षुल्लक) १५-००
३५ ज्ञानामृत (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से चयन किये गये वचनामृत्त) -
३६ सम्यग्दर्शनके सर्वोत्तकृष्ट निवासभूत छ पदोंका अमृत पत्र (श्रीमद रादचंद्र पत्रांक-४९३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन) १८-००
३७ सिद्धिपका सर्वश्रेष्ठ उपाय (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से पत्रांक-१४७,१९४, २००,५११,५६० एवं ८१९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन) २५-००
३८ सुविधि दर्शन (सुविधि लेख पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन) ४०-००
३९ समयसार नाटक अनुपलब्ध
४० समयसार कलस टीका अनुपलब्ध
४१ समयसार अनुपलब्ध
४२ तत्त्वानुशीलन (भाग-१,२,३) (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई) २०-००
४३ तत्थ्य अनुपलब्ध
४४ विधि विज्ञान (विधि विषयक वचनामृत्तोंका संकलन) १०-००
४५ वचनामृत्त रहस्य (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके नाईरौबीमें हुए प्रवचन २०-००
-

વીતરાગ સત્‌સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટ

ઉપલબ્ધ પ્રકાશન (ગુજરાતી)

ગ્રંથનું નામ તેમજ વિવરણ મૂલ્ય
૦૧ અધ્યાત્મિકપત્ર (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીના પત્રો) ૦૨-૦૦
૦૨ અધ્યાત્મ સંદેશ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના વિવિધ પ્રવચનો) અનુપલબ્ધ
૦૩ આત્મયોગ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૫૯૬, ૪૯૧, ૬૦૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો) ૨૦-૦૦
૦૪ અનુભવ સંજીવની (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વચનામૃત્તોનું સંકલન) ૧૫૦-૦૦
૦૫ અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૧) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો ૩૦-૦૦
૦૬ અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૨) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો ૩૦-૦૦
૦૭ અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૩) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો ૩૦-૦૦
૦૮ અધ્યાત્મ પરાગ -
૦૯ બીજું કાંઈ શોધમા (પ્રત્યક્ષ સત્પુરુષ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન) -
૧૦ બૃહદ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૧) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો) -
૧૧ બૃહદ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૨) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો) -
૧૨ ભગવાન આત્મા (દ્રષ્ટિ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન) -
૧૩ દ્વાદશ અનુપ્રેક્ષા (શ્રીમદ્ ભગવત્ કુંદકુંદાચાર્યદેવ વિરચિત ૦૨-૦૦
૧૪ દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ (ભાગ-૩) (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદજી સોગાની તત્ત્વચર્ચા) ૦૪-૦૦
૧૫ દસ લક્ષણ ધર્મ (ઉત્તમ ક્ષમાદિ દસ ધર્મો પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીનાં પ્રવચનો) ૦૬-૦૦
૧૬ ધન્ય આરાધના (શ્રીમદ રાજચંદ્રજીની અંતરંગ અધ્યાત્મ દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા વિવેચન) ૧૦-૦૦
૧૭ દિશા બોધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી પત્રાંક-૧૬૬,૪૪૯,અને ૫૭૨ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા પ્રવચનો) ૧૦-૦૦
૧૮ ગુરુ ગુણ સંભારણા (પૂજ્ય બહેનશ્રીના શ્રીમુખેથી સ્ફુરિત ગુરુભક્તિ) ૦૫-૦૦
૧૯ ગુરુ ગિરા ગૌરવ (પૂજ્ય સૌગાનીજીની અંગત દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો) ૨૦-૦૦
૨૦ ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૧) (દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સળંગ પ્રવચનો) ૨૦-૦૦
૨૧ ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૨) (દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સળંગ પ્રવચનો) ૨૦-૦૦

૨૨	જિણસાસણં સવ્વં (જ્ઞાનીપુરુષ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૦૮-૦૦
૨૩	કુટુંબ પ્રતિબંધ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૦૩, ૩૩૨, ૫૧૦, ૫૨૮, ૫૩૭ તથા ૩૭૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૩	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૧) (પરમાગમસારમાંથી ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃત્તો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૪	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૨) (પરમાગમસારમાંથી ક્રમબદ્ધ પર્યાય વિષયક ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃત્તો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૨૫	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૧) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૬	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૨) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૭	ક્રમબદ્ધપર્યાય	-
૨૮	મુમુક્ષતા આરોહણ ક્રમ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૨૫૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૧૫-૦૦
૨૯	નિર્ભ્રાંત દર્શનની કેડીએ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૧૦-૦૦
૩૦	પરમાત્માપ્રકાશ (શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત)	૧૫-૦૦
૩૧	પરમાગમસાર (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ૧૦૦૮ વચનામૃત્ત)	૧૧-૨૫
૩૨	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૧) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૩૩	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૨) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૩૪	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૩) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૩૫	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૪) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય શક્તિઓ ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૭૫-૦૦
૩૬	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૧) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	૬૫-૦૦
૩૭	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૨) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	-
૩૮	પ્રયોજન સિદ્ધિ (લે. પૂજ્યભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૦૩-૦૦
૩૯	પથ પ્રકાશ (માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૪૦	પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૯૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૪૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૨) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૮૫-૦૦
૪૩	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૩) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૪	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૪) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૫	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૫) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૬	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૬) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૭	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૭) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૪૮	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૮) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦

૪૯	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૯) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૦	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૦) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૨	પ્રવચનસાર	અનુપલબ્ધ
૫૩	પ્રચારિસ્તકાય સંગ્રહ	અનુપલબ્ધ
૫૪	પદ્મનંદીપંચવિશતી	-
૫૫	પુરુષાર્થ સિદ્ધિ ઉપાય	અનુપલબ્ધ
૫૬	રાજ હૃદય (ભાગ-૧) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૭	રાજ હૃદય (ભાગ-૨) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૮	રાજ હૃદય (ભાગ-૩) (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૯	સમ્યક્જ્ઞાનદીપિકા (લે. શ્રી ધર્મદાસજી ક્ષુલ્લક)	૧૫-૦૦
૬૦	જ્ઞાનામૃત્ત (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી ચૂંટેલા વચનામૃત્તો)	૦૬-૦૦
૬૧	સમ્યગ્દર્શનના નિવાસના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભૂત છ પદનો પત્ર (શ્રીમદ્ રાજચંદ પત્રાંક-૪૯૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૬૨	સિદ્ધપદનો સર્વશ્રેષ્ઠ ઉપાય (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૪૭, ૧૯૪, ૨૦૦, ૫૧૧, ૫૬૦ તથા ૮૧૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૩	સમયસાર દોહન (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજી સ્વામીના નાઈરોબીમાં સમયસાર પરમાગમ ઉપર થયેલાં પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૬૪	સુવિધિદર્શન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત સુવિધિ લેખ ઉપર તેમનાં પ્રવચન)	૨૫-૦૦
૬૫	સ્વરૂપભાવના (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૯૧૩, ૭૧૦ અને ૮૩૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૬	સમક્તિનું બીજ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી સત્પુરુષની ઓળખાણ વિષયક પત્રાંક-ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૬૭	તત્ત્વાનુશીલન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વિવિધ લેખ)	-
૬૮	વિધિ વિજ્ઞાન (વિધિ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૬૯	વચનામૃત્ત રહસ્ય (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના નાઈરોબીમાં બહેનશ્રીના વચનામૃત્ત પર થયેલાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૭૦	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૧)	-
૭૧	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૨)	-
૭૨	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૩)	-
૭૩	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૪)	-
૭૪	યોગસાર	અનુપલબ્ધ
૭૫	ધન્ય આરાધક	-

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्टमें से प्रकाशित हुई पुस्तकोंकी प्रत संख्या

०१	प्रवचनसार (गुजराती)	१५००
०२	प्रवचनसार (हिन्दी)	४२००
०३	पंचास्तिकायसंग्रह (गुजराती)	१०००
०४	पंचास्तिकाय संग्रह (हिन्दी)	२५००
०५	समयसार नाटक (हिन्दी)	३०००
०६	अष्टपाहुड (हिन्दी)	२०००
०७	अनुभव प्रकाश	२१००
०८	परमात्मप्रकाश	४१००
०९	समयसार कलश टीका (हिन्दी)	२०००
१०	आत्मअवलोकन	२०००
११	समाधितंत्र (गुजराती)	२०००
१२	बृहद द्रव्यसंग्रह (हिन्दी)	३०००
१३	ज्ञानामृत (गुजराती)	१०,०००
१४	योगसार	२०००
१५	अध्यात्मसंदेश	२०००
१६	पद्मनंदीपंचविंशती	३०००
१७	समयसार	३१००
१८	समयसार (हिन्दी)	२५००
१९	अध्यात्मिक पत्रो (पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी द्वारा लिखित)	३०००
२०	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (गुजराती)	१०,०००
२१	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (हिन्दी)	६६००
२२	पुरुषार्थसिद्दिउपाय (गुजराती)	६१००
२३	क्रमबद्धपर्याय (गुजराती)	८०००
२४	अध्यात्मपराग (गुजराती)	३०००
२५	धन्य अवतार (गुजराती)	३७००
२६	धन्य अवतार (हिन्दी)	८०००
२७	परमामगसार (गुजराती)	५०००
२८	परमागमसरा (हिन्दी)	४०००
२९	वचनामृत प्रवचन भाग-१-२	५०००

३०	निर्भ्रांत दर्शननी केडीए (गुजराती)	५०००
३१	निर्भ्रांत दर्शनकी पगडंडी (हिन्दी)	७०००
३२	अनुभव प्रकाश (हिन्दी)	२०००
३३	गुरुगुण संभारणा (गुजराती)	३०००
३४	जिण सासणं सव्वं (गुजराती)	२०००
३५	जिण सासणं सव्वं (हिन्दी)	२०००
३६	द्वादश अनुप्रेक्षा (गुजराती)	२०००
३७	दस लक्षण धर्म (गुजराती)	२०००
३८	धन्य आराधना (गुजराती)	१०००
३९	धन्य आराधना (हिन्दी)	१५००
४०	प्रवचन नवनीत भाग-१-४	५८५०
४१	प्रवचन प्रसाद भाग-१-२	२३००
४२	पथ प्रकाश (गुजराती)	२०००
४३	प्रयोजन सिद्धि (गुजराती)	३५००
४४	प्रयोजन सिद्धि (हिन्दी)	२५००
४५	विधि विज्ञान (गुजराती)	२०००
४६	विधि विज्ञान (हिन्दी)	२०००
४७	भगवान आत्मा (गुजरात+हिन्दी)	३५००
४८	सम्यक्ज्ञानदीपिका (गुजराती)	१०००
४९	सम्यक्ज्ञानदीपिका (हिन्दी)	१५००
५०	तत्त्वानुशीलन (गुजराती)	४०००
५१	तत्त्वानुशीलन (हिन्दी)	२०००
५२	बीजुं कांई शोध मा (गुजराती)	४०००
५३	दूसरा कुछ न खोज (हिन्दी)	२०००
५४	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (गुजराती)	२५००
५५	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (हिन्दी)	३५००
५६	अमृत पत्र (गुजराती)	२०००
५७	अमृत पत्र (हिन्दी)	२५००
५८	परिभ्रमणना प्रत्याख्यान (गुजराती)	१५००
५९	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (हिन्दी)	२५००
६०	आत्मयोग (गुजराती)	१५००
६१	आत्मयोग (हिन्दी)	३०००
६२	अनुभव संजीवनी (गुजराती)	१०००

६३	अनुभव संजीवनी (हिन्दी)	१०००
६४	ज्ञानामृत (हिन्दी)	२५००
६५	वचनामृत रहस्य	१०००
६६	दिशा बोध (हिन्दी-गुजराती)	३५००
६७	कहान रत्न सरिता (हिन्दी-गुजराती)	२५००
६८	प्रवचन सुधा (भाग-१)	१४००
६९	कुटुम्ब प्रतिबंध (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७०	सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (हिन्दी-गुजराती)	३०००
७१	गुरु गिरा गौरव (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७२	आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन	७५०
७३	प्रवचन सुधा (भाग-२)	७५०
७४	समयसार दोहन	७५०
७५	गुरु गुण संभारणा	७५०
७६	सुविधिदर्शन	१०००
७७	समकितनुं बीज	१०००
७८	स्वरूपभावना	१०००
७९	प्रवचन सुधा (भाग-३)	१०००
८०	प्रवचन सुधा (भाग-४)	१०००
८१	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-१	१०००
८२	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-२	१०००
८३	सुविधि दर्शन (हिन्दी)	१०००
८४	प्रवचन सुधा (भाग-५)	१०००
८५	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-१)	१०००
८६	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-२)	१०००
८७	वचनामृत रहस्य (हिन्दी)	१०००
८८	प्रवचन सुधा (भाग-६)	१०००
८९	राज हृदय (भाग-१)	१५००
९०	राज हृदय (भाग-२)	१५००
९१	अध्यात्मसुधा (भाग-१)	१०००
९२	अध्यात्मसुधा (भाग-२)	१०००
९३	गुरु गिरा गौरव (भाग-१)	१०००
९४	अध्यात्म सुधा (भाग-३)	१०००

९५	प्रवचन सुधा (भाग-७)	७५०
९६	प्रवचन सुधा (भाग-८)	७५०
९७	राज हृदय (भाग-३)	७५०
९८	मुक्तिनो मार्ग (गुजराती(	१०००
९९	प्रवचन नवनीत (भाग-३)	१०००
१००	प्रवचन नवनीत (भाग-४)	१०००
१०१	प्रवचन सुधा (भाग-९)	७५०
१०२	गुरु गिरा गौरव (भाग-२)	७५०
१०३	प्रवचन सुधा (भाग-२) हिन्दी	१०००
१०४	प्रवचन सुधा (भाग-१०) (गुजराती)	७५०
१०५	प्रवचन सुधा (भाग-११) (गुजराती)	७५०
१०६	धन्य आराधक (गुजराती)	७५०

पाठकोंकी अंगत नोंधके लिए

पाठकोंकी अंगत नोंधके लिए